RE-IMAGINING THE BUDDHA

Dhammachari Subhuti

HINDI TRANSLATION

बुद्ध की पुनः कल्पना

बुद्ध की पुनः कल्पना

प्रस्तावना

सन 2010 के अगस्त महिने के आखरी दिनों में, कल्पनाशक्ती इस विषय पर केंद्रीत, चर्चा–सत्रों की एक श्रृंखला में सुभुती और मैनें प्रवेश किया। एक लंबे अरसे से, सुभुती के साथ इस विषय पर चर्चा करने की मेरी प्रदीर्घ इच्छा थी क्योंकि मेरे पास कुछ नयी कल्पनाए थी और मै उनके विषय में बात करना चाह रहा था । सुभुती ने मेरे लिए कुछ दिनों का समय निकाला और मध्यमलोक के मेरे फ्लॅट में हमने उपरोक्त विषय पर चर्चा की। हमने विषय पर चर्चा का आरंभ किया जड़ात्मवाद से, जिस पर मेरा चिंतन जारी था। वस्तुतः मैनें सुभुती को यह भी याद दिलाया कि कई साल पहले जब मैं कलिंगपाँग में रहा करता था उस समय मैनें 'जड़ात्मवादी'(Animist) इस शिर्षक की एक कविता की भी रचना की थी। जड़ात्मवाद से आरंभ हुई हमारी चर्चा का पहला मोड था तादात्म्य या समानुभुती फिर उसके उपरांत वह मुड़ी नैतिकता तथा सौंदर्यपरकता की बातों की तरफ और फिर अंतिमतः कल्पनाशक्ती या फिर रचनात्मक कल्पना करने की ओर। यह चर्चा हमें आध्यात्मिक जीवन के एक व्यापक ऐसे अन्वेषण की दिशा में ले गई जिसमें ध्यान, बुद्ध में श्रद्धा का होना, बुद्ध के प्रति समर्पण भाव का होना जैसे विषय भी समाविष्ट थे। हमारी चर्चा बिल्कुल भी क्रमबद्ध नहीं थी, विशेषतः इस कारण क्योंकि मुझे जो कहना था वह मुझे याद आ रहा था और सुभुती अपना पूरा प्रयास कर रहे थे कि वह कुछ विशिष्ट बातों की ओर मेरा ध्यान लाए। इसलिए मैं सुभुती का अत्यंत आभारी हूँ क्योंकि ना केवल उन्होंने हमारी चर्चाओं को लिखा बल्कि उसे अधिक सुनियोजित तथा क्रमबद्ध रीति से प्रस्तुत भी किया है। 'बुद्ध की पुनः कल्पना' यह शिर्षक जो उन्होंने इस लेख को दिया है, उसमें हमारी सारी चर्चा का सार पूरी तरह से समावेशित है। मै तहेदिल से यह उम्मीद करता हूँ कि यह लेख सभी संघ–सदस्यों के लिए प्रेरणा का स्त्रोत सिद्ध होगा और आध्यात्मिक जीवन में कल्पनाशक्ती का स्थान क्या है, यह भी इससे स्पष्ट होगा।

संघरक्षित
मध्यमलोक
28 / 11 / 2010

बुद्ध की पुनः कल्पना
सुभुती

अगर उसे जादुई तत्व कहें तो, मुझे लगता है की उसका होना भी आवश्यक है, सर्वसामान्य रूप से ना सिर्फ हमारे रोजमर्रा के जीवन में बल्कि विशेष रूप से हमारे आध्यात्मिक–जीवन मे भी। और वह प्रतिक, मिथक तथा विधी–संस्कार ही होते है जो इस जादुई तत्व को जीवन प्रदान करने में सहायता प्रदान करते है – जिसे आप रचनात्मक कल्पना करने वाला तत्व भी कह सकते है।

संघरक्षित, युरोपिय ऑर्डर विकेंड, अगस्त 2010

बौद्ध जीवन जीने के लिए, बुद्ध की तरह बनने के लिए, बुद्ध की कल्पना करना हमारे लिए अनिवार्य है। हमारे लक्ष्य को हमारी कल्पनाओं में समाविष्ट हो जाना चाहिए, हमारी गहरी आंतरिक उर्जाओं का उस एक छवि में एकत्रिकरण हो चुका हो

जिसकी ओर हम मार्गक्रमण कर रहें है। मगर वर्तमान में कई लोगों की नजर में छवियाँ तथा कल्पनात्मकता या तो अनावश्यक है या फिर समस्यात्मक। ऐसा इसलिए है क्योंकि हम इतस्तः बिखरी हुई विस्थापित छवियों या कलाकृतियों के मध्य मे अपना जीवन व्यतीत कर रहें है – ऐसी कलाकृतियाँ जिनके विस्थापित होने तक ही बात सिमित नहीं है बल्कि वह ऐसी अवस्था में हैं जिसमें वह अपनी गुणवत्ता या महत्व को भी खो चुकी है। और कल्पनाशक्ति के सही मूल्य तथा उसमें व्याप्त संभावनाओं को भूलाया जा चुका हैं। बौद्ध धर्म को विकास के लिए यही वर्तमान संदर्भ उपलब्ध है।[1]

पाश्चिमात्य, उत्तरकाल की ईसाई दुनियाँ में, वर्तमान के बौद्ध लोग कल्पनाशक्ति की एक त्रिपक्षीय जटिलता में उलझे हुए है। हमारी अधिकांश सांस्कृतिक धरोहर के साथ हमारा संबंध कुछ समस्यापूर्ण सा है। हम ईसाई धर्म को नकार चुके है और इसलिए उसकी सर्वव्यापक कलाकृतियों तथा पौराणिक मिथकों के सिद्वांत संबंधी अभिप्राय से परे जाकर उनकी खालिस आत्मिक–शक्ति तक जा पहुँचने का कठिन तथा सूक्ष्म ऐसा कार्य हमारे समक्ष है। जहाँ कहीं इन कलाकृतियाँ को कला के माध्यम से अभिव्यक्त किया जाता है वहाँ हमें चाहिए की वह जिस किसी धर्म का प्रतिनिधित्व कर रही है उस धर्म के प्रति की अपनी भावनात्मक प्रतिक्रिया को स्थगित कर, हम उस कलाकृति के माध्यम से व्यक्त होने वाले सौंदर्य को हमारी सौदर्यपरक संवेदशक्ति के साथ सीधे संपर्क करने दें।[2]

यह कोई सरल सी बात नहीं है– बल्कि यह काफी परिश्रम का कार्य है जिसका कारण है कल्पक–कलाकृतियों की ओर देखने के ईसाईयत के अपने नजरिए में आते गए ऐतिहासिक बदलाव, जो हमारी संस्कृतिक पूर्वधारणाओं की तहों में स्थापित है। युरोप में स्वयं को एक सशक्त तथा लोकप्रिय धर्म के रूप में स्थापित करने हेतु ईसाईयत नें वहाँ के लोकप्रिय धर्मों के विधर्मी देवताओं का दमन किया। यह दमन करते हुए उनकी सभी करामाती शक्तियों को अपने पास रखा गया तथा अन्य सभी जादुई बातों को शैतान के हवाले कर दिया गया, कभी कभी तो यह सब इतनी क्रुरता से किया गया कि जो स्वयं ही शैतानियत की मिसाल सी लगती है।

कल्पक–कलाकृतियों के प्रथम विस्थापन के बाद दुबारा उनका विस्थापन हुआ : प्रोटेस्टंट धर्म–सुधार आंदोलन के और भी अधिक वहशी तथा संपूर्ण मूर्ति–भंजन द्वारा, जिसने अपने यथासंभव चरम स्वरूप में लगभग सभी प्रकार की कल्पक–कलाकृतियों को शैतानी करार देते हुए उनकी तीव्र निंदा की। रोमन चर्च ने अपनी कलाकृतियों को यथावत् रखा परंतु ऐसा करने हेतु जिन प्रतिरक्षात्मक उपकरणों का उन्हें उपयोग करना पड़ा उसने एक नई आत्म–चेतना तथा भावप्रबरता का परिचय दिया जो अपने आप में ही एक तबाही जैसा नहीं तो कम से कम अपने क्षीण होने जैसा था। केवल दक्षिणी युरोप में तथा लॅटिन अमरिका में ही अर्ध–विधर्मी कलाकृतियों की संपत्ती का अस्तित्व बरकरार रह पाया है।

धर्म–सुधार आंदोलन की नृशंसता से बुद्धिवाद तथा विज्ञानवाद का उदय हुआ जो आज भौतिक जगत के सिंहासन पर आरूढ हो चुके है और जिन्होनें मिथकों तथा कल्पनाशक्ति के इलाकों को रोग–निदान के विज्ञान, राजनिती या फिर उससे भी बदहाल केवल मनोरंजन के लिए छोड़ दिया है। यह तिसरे प्रकार का मूर्ति–भंजन आज विश्व को प्रभावित करने वाली एक विश्वव्यापी शक्ती बन चुका है और यह पाश्चिमात्य जगत की औपनिवेशिक तथा वाणिज्यिक शक्ति की सबसे अधिक विध्वंसक संपदा है। वह कलाकृतियाँ जो कभी गहरे अर्थ को अभिव्यक्त किया करती थी वह आज सामान्य मामूली सी तथा विज्ञापनों की घिसी–पिटी उक्तियाँ बन कर रह गयी है।[3]

निश्चित ही समस्त कल्पक जीवन का औपनिवेशिकरण करने में ईसाईयत कभी भी सफलता प्राप्त नहीं कर पायी : विकल्पी परंपराओं की भी उस दौरान मौजूदगी थी। प्राचिन ग्रीस तथा रोम उस समय ईसाई युरोप को शिक्षा प्रदान कर रहें थे और शिक्षित लोगों के मन–मस्तिष्क में संतो तथा शहिदों के साथ ही साथ उनके देवता तथा जलपरियाँ भी एक असहज सहजीवन व्यतीत कर रहे थे। जिनका वे लोग कभी समर्थन करते तो कभी निंदा।

निओप्लेटोवाद तथा रसायनशास्त्र का कई शताब्धीयों तक अनेक महत्वपूर्ण विचारों पर प्रभाव बना रहा। और विगत सदी तक तो रॉबिन गुडफेलो के बारे में के तथा इसी तरह के अन्य विश्वासों में प्राचीन देवता भी अस्तित्व में थे। अभी हालिया सी. जी.

---

[1] संघक्षित, *'द प्राईसलेस ज्युएल'* तथा *'द जअर्नी द टू कॉन्चेंटो'* पृष्ठ 63।

[2] *'द प्राईसलेस ज्युएल'* तथा *'फ्रॉम जेनेसिस टू द डायमंड सूत्रा'* मे लिखित अनेक लेखों को देखिए।

[3] इंग्लंड में हुई इस प्रक्रिया की पूरी जानकारी हेतु पढ़िए केथ थॉमस द्वारा लिखित *रिलिजन ॲण्ड द डिक्लाइन ऑफ मॅजिक*।

जंग तथा उनका अनुसरण करने वाले कुछ मनोविज्ञान विश्लेषकों ने कल्पनाशक्ति के क्षेत्र को काफी गंभीरता से लिया है और बहुत सी महत्वपूर्ण बातों की खोज की है जो आज के बौद्ध व्यक्ति की काफी सहायता कर सकती है।

इन वैकल्पिक परंपराओं की उपस्थिती के बावजूद भी आज पश्चिम में कल्पक–कलाकृतियों की गहराईयों की तथा उनकी शक्ति की व्यापक रूप से सराहना नहीं की जाती है और जो भी कलाकृतियाँ हमारे पास मौजूद है वे अधिकतर या तो विस्थापित है या फिर ऐसी है जो अपने महत्व को खो चुकी है। यह उन कठिनाईयों में से कुछ एक ऐसी कठिनाईयाँ है जिनके मध्य में पाश्चिमात्य बौद्ध व्यक्ति को बुद्ध की कल्पना करनी है। भारत की समस्याए परस्पर व्याप्त भी है परंतु कुछ भिन्न भी है। वर्तमान–कालिक भारतीय बौद्ध ऐसी कल्पक–कलाकृतियों के मध्य में रहता है जो यथार्थ रूप से विस्थापित है क्योंकि मुसलमान हमलावरों की धर्मान्ध डकैतियों तथा ब्राम्हणी 'प्रति–क्रांति'[4] द्वारा किए गए पद्धतिबद्ध विध्वंस दोनों ही के कारण बौद्ध संस्कृति उत्पीड़ित हुई है। अतीत की झलक में उन्हें अपनी प्राचिन धरोहर के प्रति बहुत गर्व महसूस होता है और गहरी उदासी या फिर शायद क्रोध भी आता है उन राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रक्रियाओं पर जिन्होंने उन्हे उस संस्कृति से वंचित कर दिया – और जो आज भी भारत के इतिहास की वास्तविकता को नकारने की कोशिश में है।

डॉ. आंबेडकर के अनुयायी जिन्होनें हिंदु धर्म के अपने शोषित स्थान को छोड़ने हेतु बौद्ध धर्म का स्वीकार किया है वे अत्यंत घृणा के साथ हिंदु धर्म के 33 करोड़[5] देवताओं की कलाकृतियों की हावी हो जाने वाली प्रचुरता से मुँह मोड़ चुके है – और जिसका कारण भी समझा जा सकता है। बहुत से उच्च शिक्षा प्राप्त कर चुके दलित बौद्धों ने बरट्रान्ड रसेल की असाधारण प्रतिभा को पीठासीन कर संकुचित बुद्धिवाद को ग्रहण कर लिया है। अक्सर इस बुद्धिवाद का संबंध डॉ. आंबेडकर के साथ जोड़ा जाता है जबकि वे स्वयं प्रतिकों तथा चिन्हों के महत्व एवं उनकी शक्ति के विषय में भली भाँति से सचेत थे – वास्तव में हमारे पास उस पुस्तक की संक्षिप्त रूपरेखा भी उपलब्ध है जिसे इस विषय को लेकर लिखने का उनका इरादा था।[6]

बौद्ध धर्म के लिए डॉ. आंबेडकर का यह महान योगदान था कि उन्होनें दोनों ही सैद्धांतिक तथा आचरणात्मक रूप से भी धम्म का सामाजिक परिवर्तन के साथ संबंध स्थापित किया। परंतु उनके बहुत से अनुयायियों के बीच धम्म राजनिती में खो गया है और धम्म को समझने के लिए केवल विज्ञानवाद तथा भौतिकवाद का ही संदर्भ लिया जा रहा है जो कि वास्तव में ईसाइयत के उपरांत की पश्चिमी दुनिया की देन है। स्वयं डॉ. आंबेडकर धम्म की 'पवित्र' शक्ति तथा उसकी गहराई के विषय में सुस्पष्ट रूप से सचेत थे – उन्होनें यह जान लिया था कि उस पवित्र आयाम की अनुपस्थिती में समाज में नैतिक व्यवस्था कायम नहीं रह सकती।[7] यह जरूरी है कि उनके अनुयायी अब उथले बुद्धिवाद से स्वयं को मुक्त करें और कल्पनात्मकता से युक्त ऐसे जीवन की खोज करें जो उन्हें वापिस हिंदु धर्म की ओर ना ले जाता हो, जिसका अर्थ है वापिस जात–पात, अज्ञान तथा अंधश्रद्धा द्वारा होने वाले शोषण की ओर।

ऐसे प्राचिन बौद्ध विश्व के लिए भी कि जिनकी परंपराए अभी तक अविस्थापित है, आधुनिकता एक ऐसी चुनौती है जिसका सफलतापूर्वक सामना करना शायद ही किसी को संभव हुआ है। हर कहीं बौद्धों के समक्ष यह प्रश्न है कि विभिन्न परिपेक्ष्यों के तथा विभिन्न सांस्कृतिक संदर्भो के अंतर्गत बुद्ध की कल्पना किस प्रकार से की जाए। संगठनात्मक तथा सैद्धांतिक प्रश्नो को दरकिनार कर दिया जाए तो वर्तमान में स्त्रीयों तथा पुरूषों की कल्पनाओं में बुद्धत्व की छवि कैसी प्रतित होगी?

त्रिरत्न बौद्ध महासंघ को किसी भी विशिष्ट सांस्कृतिक परंपरा के दायरें में सिमित किए बिना संघरक्षित ने इसकी स्थापना की और इसी कारण इसके सदस्यों को बुद्ध की पुनः खोज करने की प्रक्रिया में एक अनूठा स्थान प्राप्त है। पश्चिम में भी और भारत में भी पिछले चालिस साल से संघ इस समस्या से जूँझ रहा है, विभिन्न स्तरों की आत्म–चेतनाओं के साथ और उससे भी अधिक इस प्रक्रिया में प्राप्त हुई विभिन्न स्तरों की सफलताओं के साथ। स्थानिक बौद्ध–कला में कुछ एक लक्षणीय बदलाव

---

[4] डॉ. बी. आर. आंबेडकर द्वारा लिखित, *रिव्होल्यूशत ॲण्ड काऊंटर रिव्होल्यूशन इन एनशियंट इंडिया देखिए*।

[5] वर्तमान भारतीय भाषाओं में, भारतीय अंग्रजी सहीत करोड़ शब्द का अर्थ होता है 10 दस लाख! (1 crore=10 million)

[6] डॉ. आंबेडकरः *रायटिंग ॲण्ड स्पीचेस,* खण्ड 3, 'स्कीम ऑफ बुक्स', नं. 3 'सिम्बॉलस् ऑफ हिंदुइझम': जिसमे पहला अध्याय लिखा जाना था, 'सिम्बॉल्स् रिप्रेसेंट द सोल ऑफ द थिंग'(प्रतिक वस्तुओं की आत्मा का प्रतिनिधित्व करते है) तथा अगले अध्याय का नियोजित शिर्षक था, 'सिम्बॉल्स् ऑफ बुद्धिझम्'(बौद्ध धर्म के प्रतिक)

[7] डॉ. बी. आर. आंबेडकर द्वारा लिखित, 'द बुद्धा ॲण्ड हिज धर्मा' (भगवान बुद्ध और उनका धम्म) खण्ड 4, भाग 1, अनुच्छेद 6: 'केवल नैतिकता ही पर्याप्त नही है। यह पवित्र और विश्वव्यापी होनी चाहिए'।

भी हुए है : भारत में नागपूर के नागलोक में जो खड़े हुए बुद्ध की अतिविशाल प्रतिमा है वह इसका ताजा उदाहरण है, जिसमें सुदुर पूर्व की तथा समसामायिक भारतीय संवेदनाओं का मिला जूला रूप देखा जा सकता है। परंतु अक्सर पश्चिम की हमारी मूर्तियों की रचनाओं तथा हमारे विधि–संस्कारों से यही सूचित होता है कि हम तिब्बती परंपरा का ही एक भिन्न स्वरुप है – और संभाव्य रुप से यह बात भारत में हो रहे हमारे कार्य के लिए भी कठिनाईयाँ निर्माण करती है, जहाँ पर तिब्बती प्रतिमाओं मे तथा हिंदु धर्म से संबंधित विभिन्न प्रतिमाओं में भेद कर पाना लगभग नामुमकिन सा है। और यही बात पश्चिम में भी हमें बेहद सिमित कर देती है क्योंकि इनसे प्रभावित होने वाले लोगों की संख्या बहुत अल्प है। वे लोग या तो इनकी समृद्ध विदेशीयता की ओर आकृष्ट होते है या फिर इसलिए क्योंकि वे उन गहरे अर्थ को धारण की हुई प्रतिमाओं को उनकी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के पहनावे के बिना स्वतंत्र रुप से देखने में सक्षम होते है।

भारत में तथा पश्चिम में दोनों ही स्थानों पर अपना समय व्यतीत करने के कारण मैं उस चुनौती के विषय में अधिक सचेत हो गया हूँ जो हमारे समक्ष है। सबसे पहले तो इस बात का खतरा है कि पश्चिम के हमारे आंदोलन के लोगों की कल्पनात्मक अनुभूतियाँ भारत में स्थित हमारे भाईयों और बहनों की अनुभूतियों से मेल ना खायें। एक व्यापक सांस्कृतिक अंतर को ध्यान में रखते हुए कल्पक–कलाकृतियों में अंतर होना अपरिहार्य है। बावजूद इसके कल्पक रचनाओं मे एक अंतरर्निहित साम्य के आभाव में भारतीय तथा पाश्चिमात्य लोगों को गुजरते वक्त के साथ यह मुश्किल लग सकता है कि वह अपने आप को एक ही संघ को हिस्सा समझे। उस संघ का हिस्सा जो सांस्कृतिक मतभेदों से परे हो और जो सहभाजित मानवता की अनुभूति के सारे अवसर प्रदान करता हो।

परंतु एक और भी गंभीर समस्या है जो सीधे इस बात के अंतरंग को ही स्पर्श करती है कि धम्म–जीवन जीने के मायने क्या है : जब तक हम वास्तव में बुद्ध तथा उनके द्वारा प्राप्त बुद्धत्व की इस तरह से कल्पना नहीं कर पाते की वह हमारे अंतकरण को गहराई तक झंझोड़ दे तब तक हम बुद्ध को शरण–गमण करने हेतु हमारी उर्जाओं को कार्यप्रवृत्त नहीं कर सकते। अपने इर्द गिर्द की कल्पक छवियों से प्रेरणा तथा सहायता प्राप्त करके और अपने *स्वयं* के मन में बुद्ध की छवि की तलाश करके ही हम अंतकरण पुर्वक बुद्ध की कल्पना कर सकते है। इस तरह की छवियों को ना तो हम निर्मित होने का आदेश दे सकते है और ना ही किन्हीं वस्तुओं को एकत्रित कर उनमें उनकी खोज की जा सकती है। इन छवियों को ना आदेशित किया जा सकता है और ना ही प्रकल्पित। वृक्ष लताओं की तरह उन्हें जिवित तथा सदैव विकसित होते रहना होता है और पेड़ पौधों की ही तरह यह आवश्यक है कि वे अपने ही नैसर्गिक परिवेश से उत्पन्न हो : व्यक्ति के मन–मस्तिष्क में जो उनके प्रकट होने का स्थान होता है और उसी सांस्कृतिक परिवेश में जिसमें वह मन–मस्तिष्क विकसित हुआ हो। विस्थापित हो चुकी तथा अपने मूल्य को खो चुकी कल्पक छवियों का स्थान विदेशी परंपरा की छवियों को प्रतिदान करना इतना भी सरल नहीं है। फिर भले ही वह विदेशी छवियाँ अपने स्वयं के संदर्भ में कितनी ही सच्ची, सशक्त और प्रभावशाली क्यों ना हो। वर्तमान के बौद्ध, विशेषतया वह जो प्राचिन बौद्ध जगत के बाहर के है वह अपने भीतर बुद्ध की छवि को तलाशने की तथा उस छवि का अपनी स्वयं की संस्कृति में सहज अभिव्यक्ति देने की एक लंबी तथा कठिन यात्रा पर निकल पड़े है। उनका यह कार्य विज्ञान के क्षेत्र का कम और जादुई क्षेत्र से वास्ता रखने वाला अधिक है।

कल्पनाशक्ति के व्यापक क्षेत्र के विषय में संघरक्षित के पास कहने को इतना कुछ था कि उससे कल्पनाशक्ति के एक नए बौद्ध सिद्धांत की रुपरेखा तैयार हो गई।[8] मुझे ऐसा हमेशा लगता रहा था कि इस विषय को अधिक विस्तार से समझने की तथा व्यवहार में लाने की आवश्यकता है और साथ ही इसके संघ के तथा हमारे आंदोलन के जीवन और व्यवहार में और भी अधिक गहन अवशोषन की। इसलिए अगस्त में मैनें उनके साथ चर्चाओं की एक श्रृंखला की थी, यह देखने हेतु की क्या इस विषय पर कुछ और रोशनी डाली जा सकती है। हमारी बातचीत को रिकार्ड किया गया और उस बातचीत के लिप्यंतरों के आधार पर मैनें अपने स्वयं के शब्दों में यह लेख लिखा है। हालाँकि संघरक्षित ने यहाँ इस मौके पर तथा अन्यत्र जो कुछ भी कहा है उसका मैनें काफी हद तक विस्तार किया है और मेरे विचार में उनका तात्पर्य क्या है या वे क्या सूचित करना चाहते है इस बात का मैनें मेरा अपना विवेचन भी किया है। शायद इसका अचूक वर्णन मै इस तरह कर सकता हूँ कि यह संघरक्षित द्वारा प्रस्तुत विषयवस्तुओं की विविधताओं का संच है। जो कुछ भी मैने लिखा है वह मैनें उन्हें दिखलाया है और फिर एक बार उन्होंने इस बात की पुष्टि की है कि मैनें अचूकता से उनके विचारों को प्रस्तुत किया है – जितना किसी अन्य

[8] विशेषतः संघरक्षित द्वारा लिखित, *'द रिलिजन ऑफ आर्ट'* तथा *' द प्रइसलेस ज्युएल' और 'अलटरनेटिव ट्रेडिशनस्'* के कई निबंध और साथ ही मेरी पुस्तक *संघक्षितः अ न्यु व्हॉइस इन बुद्धिस्ट ट्रेडिशन,* अध्याय 10

के शब्दों तथा शैली में हो सकता है उतनी अचूकता से।

हमारी चर्चाओं से जो उभरा वह उन बातों का ही स्पष्ट पुष्टिकरण था जो वह इससे पहले भी कई बार कह चुके थे, परंतु कई मामलों मे वह और भी आगे का तथा गहन अर्थ से भरा था। फिर एक बार संघरक्षित हमसे आमूल परिवर्तनवादी होने की अपील करते है विशेष रुप से हमारी बुद्ध की खोज को लेकर।

धम्म जीवन मे कल्पनाशक्ति का स्थान

'धम्म में श्रद्धा तथा विश्वास', मेरे इस लेख में मैनें सम्यक दृष्टि के स्वरुप के विषय में संघक्षित के विचारों को बयान किया है। मैनें यह दिखलाने का प्रयास किया है कि किस प्रकार प्रतित्य–समुत्पाद वास्तविकता का सिद्धांत नहीं बल्कि एक दूसरें पर आधारित ऐसे संस्कारित संबंधो का वर्णन है जिसे बुनियादी तौर पर हम हर बात में देख सकते है। ऐसा मैनें विशेषतः *पाँच नियमों* का हवाला देते हुए किया है, जो वह प्रवर्ग है जिनके तहत हम हमारे अनुभवों के हर पहलू को नियंत्रित करने वाली नियमशीलताओं को समझ सकते है। तर्क इन संस्कारित नियमशीलताओं को पहचानने तथा उनकी जाँच करने से अधिक कुछ नहीं कर सकता। और इसलिए बुद्ध ने बहुत ही सक्रिय रुप से हर उस प्रयास का विरोध किया जो उनसे वास्तविकता के मूल स्त्रोतों तथा उद्देश्य के बारें में अटकलें पाने के लिए किया गया था। संघरक्षित चाहते है कि हम इस विषय में बहुत कड़ाई से बुद्ध का अनुसरण करें। परें क्या है यह एक रहस्य है – या बेहतर होगा कि हम यह कहें कि एकमात्र रहस्य है। रहस्य को निश्चित ही संकल्पनात्मक रुप से समझाया नहीं जा सकता और 'बौद्ध धर्म को स्पष्टिकरण की कोई सनक नहीं है'। परंतु रहस्य की खोजबीन की जा सकती है – और निश्चित ही हमें धम्म–जीवन जीना है तो ऐसा किया भी जाना चाहिए। 'जहाँ तर्क अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच जाए' वहाँ से आगे 'प्रदिप्त कल्पनाशक्ति' को उसका कार्यभार संभालकर आगे बढ़ते रहना चाहिए।[9]

`तो फिर कल्पनाशक्ति क्या है? संघरक्षित इस शब्द का तथा इसके समानार्थी 'कल्पना करने की आंतरिक शक्ति' का प्रयोग करते है। कभी–कभी धम्म–जीवन किन बातों में निहित है इसकी अपनी छान बीन में वे इन शब्दों का निवेश महत्वपूर्ण तत्व के रुप में भी करते है। इस विषय में उनका आवाहन विशेषतः अंग्रेजी भाषा के रोमानी कवि तथा साहित्य आलोचक एस. टी कोलोरिज् के वाचन से प्रेरित है जो उनकी नजर में यकीनन इंग्लंड का एक महानतम विचारक है; परंतु ऐसा जो ईसाइयत के परे ना सोच पाने की अपनी असमर्थता के कारण विकलांग है। विलियम ब्लेक के अधिक सुबोध काव्य ने भी इस संबंध में उनके दृष्टिकोण को काफी हद तक प्रभावित किया है।[10]

कोलोरिज् उस रचनात्मक प्रक्रिया को समझना चाहता था जिसे उसने बेहद सशक्त रुप से अनुभव किया था और जिसे वह उस दौर में विकसित हो रहे यंत्रवत तथा नियतात्मक मनोविज्ञान से निजाद दिलाना चाहता था। उसके मतानुसार ऐसे संकुचित सिद्धांतो के आधार पर कल्पनाशक्ति को नहीं समझा जा सकता। इस बात को स्पष्ट करने के लिए उसने कल्पनाशक्ति तथा जिसे वह 'फॅन्सी' कहता था उन दोनों के बीच की विषमता को दर्शाया। फॅन्सी या रोचक–कल्पना याने किसी भी गहरे अर्थ के या फिर आधारभूत संबंधो के बिना ही नए संयोजनों में छवियों को केवल नियमानुसार एकत्रित लाने की प्रक्रिया है। इसके विपरित कल्पनाशक्ति जिन छवियों का संयोजन करती है उन्हें वह रुपांतरित करती है तथा उनका एकरुपण भी करती है यदि उसे उनमें नैतिक तथा आध्यात्मिक आशय नजर आता है। कोलोरिज् ने कल्पनाशक्ति को एक महत्वपूर्ण रचनात्मक उर्जा के रुप में देखा जो अपने आप को अधिकांश रुप से तथा विशेषतः किसी कलाकार के भीतर अभिव्यक्त करती है। परंतु उसके अनुसार वह ..... '**अनंत मैं** के भीतर के शाश्वत सर्जन की कृति की परिमित मन में की गई एक पुनरावृत्ती है'।[11]

कोलोरिज् की सोच एक ईसाई की सोच थी परंतु एक यातनाग्रस्त एवं अपरंपरागत ईसाई की और कल्पनाशक्ति के विषय की उसकी सोच में उसके अपने विश्वासों की भी मिलावट है। इसके बावजूद उसके धर्मशास्त्र को एक तरफ रखकर वह क्या

---

[9] *रेव्हरिंग ॲण्ड रिलाईंग अपॉन द धर्मा*, पृष्ठ 19

[10] संघरक्षित द्वारा लिखित, *'अलटरनेटिव ट्रेडिशनस्'*, 'बुद्धिझम् ॲण्ड विलियम ब्लेक्'

[11] सॅम्युअल टेलर कोलोरिज्, बायोग्राफिया लिटरेरिया, भाग 1, अध्याय 13 पृष्ठ 304–5

कहना चाहता था इसे हम आसानी से पढ़ सकते है और यह बात हमें संघरक्षित के धम्म–प्रस्तुतिकरण के इस महत्वपूर्ण पहलू को समझने के करीब पहुँचने के लिए आधार प्रदान करती है। धर्मशास्त्र से जुड़े उसके अर्थ को अगर एक ओर कर दिया जाए तो हम कल्पनाशक्ति की परिभाषा व्यक्ति की एक ताकत या क्षमता के रुप में कर सकते है जिसमें ऐसा कुछ है जो उस व्यक्ति से भी बढ़कर है और जो उस व्यक्ति के अनुभवों के विषय वस्तुओं का रुपांतरण तथा एकरुपण करता है। इस परिभाषा के चार तत्व हमें यह समझने में सहायता करते है कि संघरक्षित की कल्पनाशक्ति के विषय में क्या समझ है।

हमें आरंभ में ही इस बात को समझ लेना चाहिए कि यह जरूरी नहीं कि कल्पक–छवियों तथा कल्पनाशक्ति का संबंध केवल दृष्टी या दृष्टी से जुड़े अन्य इंद्रियों तक ही सिमित हो। सभी इंद्रिय चेतनाए छवियाँ प्रक्षेपित करती है। वह भी जिनसे प्रत्यक्ष रुप से ऐसा करने की गुंजाईश नहीं होती जैसे कि स्नायु संवेदी चेतना या फिर वस्तुओं के स्थिती संबंधी ज्ञान की चेतना और तो और कल्पनाशक्ति ऐसी सूक्ष्मतर संवेदनाओं के साथ भी कार्य कर सकती है जिनके विषय में इंद्रियजन्य जानकारी के आधार पर बात नहीं की जा सकती। इस तरह यह संभव है कि बिना कुछ देखे भी व्यक्ति बुद्ध की कल्पना कर सकता है।

कल्पनाशक्ति व्यक्ति का सामर्थ्य या फिर क्षमता यहाँ तक की उसकी आंतरिक शक्ति भी है। भले ही कल्पनाशक्ति के विषय की इस चर्चा का आरंभ कलात्मक–कलाकृतियों के सर्जन के संदर्भ में हुआ है परंतु कल्पनाशक्ति केवल कलाकारों तक ही सिमित नहीं है और ना ही कला को सराहने तक। हालाँकि यह दोनों ही हमारे सर्वाधिक परिचित तथा उदाहरण प्रस्तुत करने हेतु तैयार ऐसे स्त्रोत है। हर किसी के भीतर कल्पना करने की आंतरिक शक्ति एक संभाव्य शक्ति के स्वरुप में उपस्थित होती है और यह एक मौलिक वाहन है सारे ही विशुद्ध नैतिक, कलात्मक तथा आध्यात्मिक जीवन के सफर के लिए।

एक संभाव्य शक्ति के रुप में यह इन्सानी मन में स्वाभाविक रुप से होती है। परंतु यह आवश्यक नहीं कि यह सभी के भीतर सक्रिय रुप से कार्यरत हो या फिर कम से कम वह एक प्रबल शक्ती के रुप में कार्यरत नहीं होती और वह बिल्कुल भी सचेतन अवस्था में नहीं होती। अगर इस शक्ति को निर्णायक रुप से कार्यरत होना हो तो इसे पहचानना, प्रशिक्षित करना तथा विकसित करना आवश्यक होता है। यह बात किसी चीज को निर्मित करने या नए सिरे से अस्तित्व में लाने जैसी नहीं है बल्कि जो क्षमता हमारे भीतर पहले ही से विद्यमान है उसे खोजने, पहचानने तथा महत्व देने की है – ठिक वैसे ही जैसे कि एथलिट खिलाड़ी अपनी क्षमताओं की पहचान होने पर उन शारिरिक क्षमताओं को अधिक विकसित करते है जो उन्हें जन्म से ही प्राप्त थी। हमें प्राप्त कल्पनाशक्ति को हमें पोषण प्रदान करने की आवश्यकता होती है ताकि उसका विकास विविधता से भरा हुआ तथा जीवन–शक्ति से परिपूर्ण हो और वह निरंतर हमारे जीवन में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करें।

हर रुपक के दो पहलू होते है। वह उस अर्थ को सूचित करता है जिसकी ओर हम संकेत करना चाहते है परंतु किसी अचेत या अनिच्छुक व्यक्ति को वह ऐसा अर्थ भी सूचित कर सकता है जिसकी ओर निर्देश करने का हमारा कोई इरादा ना हो। 'सामर्थ्य', 'क्षमता' या फिर 'आंतरिक शक्ति' यह सभी शब्द ऐसा सूचित करते है कि कोई बाह्य वस्तु उन्हें धारण किए हुए है – यहाँ इस मौके पर, धारण करने वाली वस्तु है 'मैं'। आरंभ से ही हमें कल्पनाशक्ति के विषय में इस तरह से सोचना चाहिए कि वह हमारा ही एक हिस्सा है क्योंकि अब तक हमने ना उसे पहचाना है और ना ही हमें उसकी अनुभूति हुई है। हमें उसके विषय में पहले ही से हमारे भीतर उपस्थित क्षमता के रुप में सोचना चाहिए ताकि हम उसकी खोज कर सकें और उसे विकसित कर सकें। परंतु जैसे जैसे कल्पनाशक्ति विकसित होती है वैसे वैसे हमें यह स्पष्ट होता जाता है कि जिस मन के हम स्वामी है उस मन की वह केवल एक शक्ति नहीं है अपितु वह स्वयं ही मन है। वह हमारी कोई चीज नहीं बल्कि हम जो है वहीं वह है। वह हमारा एक हिस्सा भर नहीं है अपितु हमारा संपूर्ण भाग है। हम स्वयं कल्पनाशक्ति ही है।

आंतरिक शक्ति के रुपक का एक और महत्व है। विशेषतः तब जब इंद्रिय–स्वरुप शक्ति के तौर पर इसका विचार किया जाता है। एक ओर जहाँ तर्क–शक्ति का संबंध अनुभूतियों के आधार पर व्युत्पन्न अवधारणाओं से होता है वही दूजी ओर कल्पनाशक्ति की पहुँच सीधे अपने विषय तक होती है चूँकि इसके सत्य संकल्पनात्मक ना होकर प्रतिकात्मक होते है। जब कल्पनाशक्ति परिपक्व हो जाती है तब वह मन की अन्य आंतरिक शक्तियों की भी आंतरिक शक्ति बन जाती है। वह तर्को, भावनाओं तथा अनुभूतियों का एकरुपण करती है तथा उनसे भी अधिक ऊचाँईयों तक पहुँच जाती है, फिर ऐसी अनुभूतियाँ चाहे शारिरिक हो या फिर मन–सृष्ट।

वे लोग जो सही मायने में रचनात्मक होते है वे इस बात को भली भाँति जानते है कि कल्पनाशक्ति में ऐसा कुछ होता है जो उस व्यक्ति की तुलना में उससे कहीं अधिक बढ़कर होता है। अगर कोई कलात्मक सर्जन की कलाकृति वाकई में यशस्वी है

तो कोई ऐसा नहीं कह सकता कि उस काव्य या संगीत या तसवीर को उसने निर्मित किया है; उस व्यक्ति नें उसे निर्मित नहीं किया होता है; बल्कि ऐसा प्रतित होता है कि उस कलात्मक सर्जन ने स्वयं ही खुद को प्रकट किया है। अगर हम हमारी कल्पनाशक्ति का विकास करना चाहते है तो इस बात को समझना हमारे लिए आवश्यक है। कल्पनाशक्ति के वृद्धिंगत होने के लिए यह आवश्यक है कि हम हमारी मर्जी को निलंबित करें और हमारी चेतना के दायरों के परें से किसी नविन सर्जन को उदित हाने की अनुज्ञा प्रदान करें। ऐसा कुछ अवश्य ही होना चाहिए जिसे कीट्स 'नकारात्मक क्षमता' कहकर संबोधित करता है, एक ऐसा ग्रहणशील रवैया जो हमें किसी बात की ओर इस तरह से ध्यान देने के लिए बाध्य करता है कि जिसमें ना तो हमारी मर्जी, ना उम्मीद और ना किसी बात को सुलझाने की प्रवृत्ती शामील होती है – जिसमें 'हर बात का स्पष्टीकरण पाने की सनक' नहीं होती।[12] प्रेरणा किसी चीज की ओर टकटकी लगाकर देखने से नहीं अपितु एक झलक मात्र में ही प्राप्त हो जाती है। इस तरह व्यक्ति अपने सर्जन कार्य का सर्जक ना होकर उसकी सर्जन प्रक्रिया का मात्र एक साधन तथा साक्षी होता है।

वह कौनसी ऐसी परा–व्यक्तिगत बात होती है जिससे कल्पनाशक्ति प्रभावित होती है? यह जानने हेतु हमें किसी ईश्वर या अन्य किसी उच्चतर शक्ति से याचना करने की आवश्यकता नहीं अपितु केवल *नियमों* की प्रणाली का ही संदर्भ लेना है। जैसे जैसे कोई व्यक्ति अधिक से अधिक कुशल मनोभाव से कर्म करता है वैसे वैसे कर्म–नियम के सिद्धांत के अनुसार उसके अनुभव अधिक सुक्ष्मता, समृद्ध तथा संतोषजनक रुप से प्रकट होते है। उस वक्त व्यक्ति की अनुभूनियाँ कुछ ऐसी होती है जिन्हें समझने हेतु उसे उन्हें देखने के अपने पुराने नजरिए से परे जाने की आवश्यकता होती है। ऐसा या तो सौम्यता से हो सकता है या फिर अचानक और विध्वंसकारी रुप से भी। कभी शायद विलक्षण रुप से, यह अनुभूतियाँ कुछ और ही प्रतित होंगी और व्यक्ति को ऐसा महसूस हो सकता है जैसे वह अपने से परे के कुछ के साथ संपर्क में है। उसे ऐसा भी महसूस हो सकता है कि जैसे किसी अन्य आयाम की किसी चीज ने उसे अपने वश में कर लिया है। प्राथमिक स्तर पर धम्म में इन अनुभूतियों को *कर्म, रुप तथा अरुप* इन *त्रिलोकों* की प्रणाली के तहत समझा जाता है : हो सकता है कि यह अनुभूतियाँ इंद्रिय–जगत की पहुँच के उच्चतम क्षेत्रों से आ रही हो या फिर यह भी हो सकता है कि वह इंद्रियों के दायरों के परे के काल्पनिक विश्व से संबंधित हो। ऐसी अनुभुतियों को जानबूझकर स्वेच्छा से अस्तित्व में लाना संभव नहीं है : पूर्व कर्मो के आधार पर वे उदित होती है और वह व्यक्ति के स्वयं के विषय के अहसास को और अधिक ऊँचा ऊठा देती है, ऐसे की वह स्वयं को ही अलग सा प्रतित होने लगता है। ये वही आयाम है जिन्हें अपने निम्नस्तर के स्वरुपों में कल्पनाशक्ति प्रभावित करती है।

तथापि कल्पनाशक्ति इससे भी अधिक ऊँची उड़ान भर सकती है और धर्म–नियम के शिर्षक के अंतर्गत आने वाली प्रक्रियाओं से भी प्रभावित हो सकती है। यह प्रक्रियाँए तब उदित होती है जब यह जान लिया जाता है कि आत्म–आसक्ति क्या है और फिर जानने के पश्चात निर्णायक रुप से उसे कमज़ोर करना आरंभ कर दिया जाता है। ऐसे में हमारे भीतर जो कुछ प्रकट होता है वह होती है अवस्थाओं की एक श्रृंखला; ऐसी अवस्थाँए जिसमें से हर एक अपनी पूर्ववर्ती अवस्था से उत्पन्न होती है तथा साथ ही उस पहली अवस्था से श्रेष्ठ भी होती है, जिन्हें निर्माण कर पाना हमारी कर्म–आधारित इच्छाओं के बस के परें होता है। ऐसे में कल्पनाशक्ति की अनुभूति धर्म–नियम प्रक्रियाओं के लिए उद्दिपक का काम कर सकती है या फिर वह कम से कम इन प्रक्रियाओं के उद्दिपकों के लिए उद्दिपक हो सकती है। जब कल्पनाशक्ति इन आयामों को स्पर्श करती है, तब संघरक्षित उसे प्रदिप्त कल्पनाशक्ति कहते है।[13]

अधिक परंपरागत बौद्ध शब्दावली में, *धर्म–नियम* की पहली हल्की सी अनुभूति प्राप्त होती है *सम्यक दृष्टी* या परिपूर्ण दृष्टी में

---

[12] 21 दिसंबर 1817 में अपने भाई को लिखे खत में '.....नकारात्मक क्षमता, अर्थात जब मनुष्य अनिश्चितता, रहस्यों, शंकाओं के मध्य में रहने में सक्षम होता है और उन बातों के तथ्यों या तर्को में जाने की उसमें कोई झल्लाहट नहीं होती'। यह बात भी शायद महत्वपूर्ण है कि कोलंबिया विश्वविद्यालय में डॉ. आंबेडकर के शिक्षक तथा मार्गदर्शक रह चुके, व्यावहारिक दार्शनिक, जॉन डेवे अपने विचारों पर किट्स की धारणा के प्रभाव का उल्लेख करते है : जॉन डेवे, आर्ट ॲज ॲन एक्सपिरियंस, पेंग्युईन (2005):33–4।
यह बात भी विचार करते योग्य है कि 'केवल बैठने के ध्यान' को करने के लिए जिस बात को विकसित करने आवश्यकता होती है वह है नकारात्मक क्षमता। परंतु इस बात का स्पष्ट रुप से समझा जाना आवश्यक है कि 'नकारात्मक क्षमता' की ग्रहणशील वृत्ती का अभ्यास *कर्म के* प्रयासों के संदर्भ मे किया जाता है। केवल निरउत्साहित, निष्क्रिय और विचारों के साथ बह जाना ग्रहणशीलता नहीं होती। किसी ग्रहण करने योग्य चीत को ग्रहण करने के लिए अत्याधिक परिश्रम की आवश्यकता होती है।

[13] *रेव्हरिंग ॲण्ड रिलाईंग अपॉन द धर्मा,* पृष्ठ 10

जो कि केवल एक वैचारिक बोध ना होकर धम्म के अपरिहार्य सत्य की ओर एक छलांग है जो अनुभूति के उस एक पल में लगाई जाती है – कल्पना के उस एक पल में। कोई ऐसा भी कह सकता है कि प्रारंभिक *सम्यक दृष्टी* इस बात की खोज है कि कल्पना करने की आंतरिक शक्ती धम्म–जीवन की यात्रा का एक साधन है – जैसे कि 'दृष्टी', 'देखना' इस शब्द से सूचित होता है। जब कोई धम्म के प्रवाह में प्रवेश कर जाता है तब कल्पनाशक्ति उसकी जागृती का एक प्रमुख लक्षण बन जाती है और जैसे जैसे उस व्यक्ति का विकास होता है वह उसमें और भी प्रबल होती जाती है। व्यक्ति उन्नत होते होते स्वयं ही कल्पनाशक्ति बन जाता है तथा उन सार्वभौमिक बलों के साथ सद्भाव से कर्म करता है जो उसके व्यक्तिगत बल की तुलना में कहीं अधिक विशाल होते है। उक्ति स्वरुप कहा जाए तो कल्पनाशक्ति आत्म–से–परे उठने की आंतरिक शक्ति है।

जो सच्चे कलाकार है उनकी पहुँच निश्चित तौर पर *कर्म* नियम के स्तर की कल्पनाशक्ति तक होती है और महानतम कलाकार शायद धर्म नियम की अनुभूतियों को स्पर्श कर पाते है। भले ही उनकी पहुँच इस स्तर की कल्पनाशक्ति तक होती है परंतु अक्सर वे इस ऊँचाई पर स्थित नहीं रह पाते है। यह बात विख्यात है कि इस वजह से कई लोगों को दोहरा व्यक्तिमत्व प्रदर्शित करते हुए देखा गया है। एक तरफ तो वे सर्वोच्च सत्य के देवतुल्य सर्वेक्षक होते है और दूसरी ओर अन्य सभी की तरह ही बेहद दुर्बल मनुष्य। अल्प समय के लिए वे एक ऐसे आयाम में प्रवेश करते है जहाँ वे स्थायी रुप से वास्तव्य नहीं कर सकते। यह बात काफी विलक्षण है और इस कारण उनका अपने सर्व साधारण स्वभाव के साथ संघर्ष चलता रहता है। कोलोरिज् स्वयं इस बात का उत्कृष्ट तथा त्रासिक उदाहरण है।

कल्पनाशक्ति अपनी अनुभूतियों के विषयों का रुपांतरण करती है; इसके विपरित फॅन्सी या रोचक–कल्पना अपने अनुभवों के आधारभूत स्वभाव में बिना कोई फेरबदल किए केवल नए संयोजनों में उनकी पुनः रचना करती है। फॅन्सी; दुनिया को केवल जीवन को सुरक्षित रखने तथा उस जीवन के मनोरंजन के लिए की एक भूमि के रुप में देखती है। उसकी चीजों के विषय की समझ यांत्रिक होती है। वह केवल हमारी अनुभूतियों से सामग्री को एकत्रित करती है और दुख दर्द से बचाव तथा सुख की प्राप्ती के लिए उसकी पुनः रचना करती है। परंतु कल्पनाशक्ति के माध्यम से हम ऐसे पशुतुल्य जीवन को पार कर लेते है। कल्पनाशक्ति के कार्य मे आधार सामग्री स्वयंस्फूर्त रुप से चयनित होती है और उसका इस तरह से रुपांतरण होता है कि वह उसके अभ्यंतर को उजागर करती है या फिर संकल्पनात्मक समझ के परे के मूलभूत सत्य को अभिव्यक्त करती है। चाहे किसी भी संवेदी माध्यम से छवि की निर्मिती क्यों ना हुई हो वह उसे निर्मित करने वाली समस्त सामग्री से कहीं अधिक ऊँची होती है। गहरे अर्थ की ओर के हमारे संकेतो को छवि के माध्यम से एक स्वरुप प्राप्त होता है जिससे हम स्वयं उन्हें जान सकते है। एक सामान्य बुद्धिवादी प्राणि की हैसियत से छवि के घटकों का हमारे लिए जो मूल्य होता है उससे कहीं अधिक परें की किसी चीज के प्रतिक के रुप में वह घटक तब्दिल हो जाते है।

प्रतिक कल्पनाशक्ति द्वारा निर्मित विशिष्ट रचना है, जिसमें संकल्पनाओं के परे के गहरे अर्थ वाले कल्पनात्मक स्वरुपों का एकत्रिकरण होता है। प्रतिक की तुलना चिन्हों से करने पर उन दोनों में जो विषमता है उसे दर्शाया जा सकता है। चिन्ह; फॅन्सी द्वारा उत्पादित होते है जो किसी संकल्पनात्मक परिकल्पना या किसी जानकारी के अंश का संक्षिप्त रुप होते है : उदाहरण के तौर पर रास्ते पर लगे तीर के निशाण यह दर्शाते है कि वह रास्ता किस ओर जा रहा है। इसके विपरित प्रतिक किसी अर्थ को प्रतिपादित करते है परंतु फिर भी वह अर्थ किन्हीं शब्दों के साथ अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता, तब तक जब तक वह शब्द स्वयं ही प्रतिकात्मक नहीं बन जाते। कल्पनाशक्ति जब अपनी परिपूर्णता को हासिल कर लेती है, तब वह प्रदिप्त बन जाती है, तब वह सारी अनुभूतियों को ऐसे प्रतिकों मे तब्दिल कर देती है जो हर चीज के अभ्यांतर को या गहरे से गहरे अर्थ को धारण किए होते है।

निश्चित ही इस बात की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए कि हम कल्पनाशक्ति द्वारा छवि के रुपांतरण की बात कर रहे है। कर्ता द्वारा अपने अनुभव के विषय को परिवर्तित करने की; परंतु व्यक्ति का अपना अनुभव हमेशा ही इस प्रकार का नहीं होता। अक्सर ऐसा प्रतित होता है कि वह छवि या प्रतिक स्वयं ही उस व्यक्ति में परिवर्तन लाते है जो उन्हें अनुभव कर रहा होता है। अनुभव कर्ता तथा उसे प्राप्त अनुभव, कर्ता तथा कर्म (विषय), कल्पनाशक्ति तथा कल्पक छवि काफि घनिष्ठ संबंध प्रस्थापित कर एकत्रित आते है जो हमारे ग्रहणबोध की सामान्य श्रेणीयों के दायरों को पार कर जाते है। कभी कभार इसका वर्णन 'अन्तरात्मियता' के तौर पर किया जाता है : जहाँ अनुभूति को महसूस करने वाला व्यक्ति उसे अपनी अनुभूति के विषय–वस्तु के रुप में नहीं बल्कि अनूभूति को महसूस करने वाले एक अन्य कर्ता के रुप में महसूस करता है, बिल्कुल उसी

तरह जैसा कि वह खुद है – दूसरे शब्दों में, व्यक्ति उन अनुभूतियों को अधिक 'वस्तुनिष्ठतापूर्वक' देखता है, वह जिस स्वरुप में है उसी स्वरुप में।

कल्पनाशक्ति अनुभूतियों के विषय–वस्तुओं का एकीकरण करती है। अनुभूति का एकीकरण या तो परिमाणात्मक या फिर गुणात्मक रुप से किया जा सकता है। केवल इंद्रियों द्वारा ग्रहण करने की कृति मात्र ही अनुभूति के विषय–वस्तुओं का अनुभव कर्ता की जानकारी वाले एक क्षेत्र के साथ संबंध स्थापित कर परिमाणात्मक रुप से उनका एकीकरण करती है। तदोपरांत उस एकल क्षेत्र तथा उस एकल अनुभव कर्ता के भीतर उन हिस्सों का या उन पहलूओं का एकीकरण किया जा सकता है जिनमें कुछ समान विशेषताँए होती है और इस कारण से वह आपस में संबंधित होती है : भुजाँए, पैर तथा सिर इन सभी को एक ही शरिर के हिस्से माना जाता है। यहाँ पर एकीकरण की प्रक्रिया तार्किक होती है, ऐसा कहना उचित होगा : वह 'तर्कसंगत विचारों के नियमों' का अनुसरण करती है।[14]

कल्पनाशक्ति द्वारा किया गया एकीकरण गुणात्मक होता है। वह अनुभूतियों या अनुभवों के उन आयामों का एकीकरण करती है जिनका चयन वह वस्तुनिष्ठ रुप से करती है और जिनके संयोजन तथा रुपांतरण में उसे एक एकीकृत अर्थ का अहसास होता है – वह उन्हें प्रतिकों में तब्दिल कर उनका एकीकरण करती है। इस तरह का गुणात्मक एकीकरण तर्क संबंधी नियमों के अधीन नहीं होता : प्रतिकों के कई अर्थ हो सकते है, जो शायद एक ही समय में परस्पर विरोधी भी हो सकते है – एक बूढ़े व्यक्ति की छवि, सपने में, जहाँ एक ओर वक्त द्वारा निर्दयतापूर्वक किए गए क्षय को दर्शाती है वहीं दूसरी ओर वह प्रगाढ़ तथा चिरस्थायी प्रज्ञता को भी दर्शाती है।

कल्पनाशक्ति कर्ता का भी एकीकरण करती है – या उससे बेहतर ऐसा कहा जा सकता है कि वह कर्ता का ही एकीकरण है। जब कल्पनाशक्ति का अविर्भाव होता है तब वह हमारे भीतर सर्वसामान्य रुप से कार्यरत मन की समस्त उर्जाओं को एकत्रित कर उन्हें उनके कार्य के दायरों से कहीं ऊँचा ऊठा देती है, जिससे वह उर्जाए हमारे जीवन में हमें परस्पर विरोधी या बेमेल नजर नहीं आती। वह जागृती की एक ही समन्वय कृति में बोधात्मक, भावनात्मक तथा ऐच्छिक या सांकल्पिक को सूक्ष्म तथा निर्मल या परिष्कृत संवेदन के साथ संघटित कर देती है। इस तरह की अनुभूति गहरे संतोष या आनंद की भावना को जगाती है, एक तरह की समरसता तथा सहानुभूति की भावना को और यहाँ तक की प्रेम की भावना को भी जगाती है। पालि तथा संस्कृत भाषा के *समाधी* इस शब्द में भी मन की शक्तियों की इसी प्रकार की एकीकृतता गर्भित है। दरअसल, ध्यान–साधना में अवशोषण का अनुभव बहुत से बौद्धों के लिए कल्पनाशक्ति का सरलता से प्राप्त होने वाला अनुभव हो सकता है।

कल्पनाशक्ति के इन्हीं गुणों से एक और गुण उजागर होता है : **कल्पनाशक्ति गतिशील तथा 'आरोही' है**। जिन कल्पक छवियों के सहारे कल्पनाशक्ति सम्पोषित होती है वह सर्वसाधारण विवेक की दुनियाँ तथा लोकोत्तर अर्थ वाले उच्चतम क्षेत्रों के मध्य की होती है। कल्पनाशक्ति मध्यस्थ की तरह होती है। वह सत्य के संकेतो को हम तक लाती है और हमें उन तक पहुँचाती है। कल्पनाशक्ति का 'आरोहण' कल्पनाशील–अर्थों के साथ आमना–सामना होने पर होता है। कल्पनाशील–अर्थों के साथ कल्पनाशक्ति का यह सामना एक पदानुक्रमिक सिलसिले में होता है जहाँ हर मुलाकात अपनी पिछली मुलाकात से अधिक सूक्ष्म तथ अधिक संतोषप्रद होती है। बुद्ध की अपनी शिक्षाओं में आरोहण के इस पदानुक्रम का वर्णन तिन *लोकों* के संदर्भ में किया जाता है जिस में से हर एक लोक की दिव्य–लोकों की अपनी व्यक्तिगत उपश्रेणियाँ भी है। *कामलोक* के उच्चतर अनुभव बहुत ही सूक्ष्म ऐसी सौंदर्य संपन्न संवेदनाओं को उत्पन्न करते है और व्यक्ति अपने इर्द गिर्द स्थित जीवन की गुंज के साथ गुंजायमान हो जाता है। *रुपलोक* में व्यक्ति प्रतिकात्मक गुंज से पूरी तरह व्याप्त दिव्य–दृष्यों के दर्शन की अनुभूतियों वाले आयाम में वास्तव्य करता है। इससे परें *अरुपलोक* मे व्यक्ति चेतना की ऐसी गहराईयों में गोते लगाता है और मूलभूत गुणों के साथ विश्राम करता है कि जिनका वर्णन करना भाषा के लिए एक चुनौती है।

हर स्तर का अनुभव और भी अधिकाधिक परिपूर्ण होता है जो जागृती के सभी पहलूओं को और भी समन्वयता से संघटित करता है। विशेषतः इसी के साथ चीजों के वास्तविक स्वरुप के विषय में गहराई से हो रहे रहस्योद्घाटन स्वरुप एक सौंदर्य–संपन्न आनंद (aesthetic pleasure) भी महसूस होता है : संतोष का एक ऐसा सशक्त भाव जो खुबसूरत होने के

[14] समरुपता, विरोधाभास के ना होने तथा अपवर्जित मध्यम के नियमः A और A समान है; A और A समान नहीं है; या तो A है या फिर A नहीं है।

साथ ही साथ बोधात्मक भी होता है। ऐसा होते हुए भी यह अनुभव लौकिक ही होते है क्योंकि उन्हें जिवित रखने हेतु *कर्म के प्रयासों* की आवश्यकता होती है। और यह इसलिए क्योंकि उनमें लोकोत्तर अंतर्दृष्टी की कमी होती है। इस कारण से इस स्तर पर कल्पनाशक्ति कर्म की उन उर्जाओं के साथ बढ़ती और घटती रहती है जो उर्जाए उसे कायम बनाए रखती है। केवल प्रदिप्त कल्पनाशक्ति ही स्थायी होती है और वह तब उदित होती है जब कल्पनाशक्ति वस्तुओं की वास्तविक सत्यता के साथ निर्णायक रुप से एकीकृत हो जाती है। तब वह कल्पनाशक्ति जो अब तक *श्रद्धा* का माध्यम थी वह *प्रज्ञा* की आंतरिक शक्ति बन जाती है। कल्पनाशक्ति के विकास के अंतिम चरण में वहाँ सिर्फ कल्पनाशक्ति ही शेष रहती है और जो कुछ भी दिखलाई पड़ता है वह केवल सत्य का ही प्रतिबिंब होता है। शायद इसी को महायान परंपरा में जिन् वैरोचन के रुप में दर्शाया गया है, भ्रम तथा अस्पष्टता के उद्बोधक के तौर पर, जिसके पास *धर्मधातुज्ञान* है, ऐसी प्रज्ञा जो हर चीज में धर्म (अंतिम सत्य) को ही देखती है।

कल्पनाशक्ति के विषय मे संघरक्षित की समझ के इस विवेचन को पूर्णत्व प्रदान करने हेतु हमें एक और बात की चिकित्सा करनी होगी : **कल्पनाशक्ति के स्वभाव की तथा उसके अस्तित्व मे होने के विषय की तत्वमीमांसा**। कल्पनाशक्ति का संबंध इस बात से है कि हम चीजों को किस तरह से समझते बूझते है और उस समय क्या होता है जब हम हमारी मात्र यांत्रिक स्वरुप की समझ–बूझ को त्याग कर अपनी अनुभूतियों को प्रतिकात्मक अर्थ के साथ निवेशीत होने की अनुज्ञा प्रदान करते है। तब हम अर्थपूर्ण छवियों की दुनियाँ में वास करते है। जिनमें से कुछ छवियाँ तो सीधे ही हमारे शारिरिक इंद्रियों द्वारा व्युत्पन्न होती है और अन्य या तो संकेतो, ख्वाबों, दृष्य–दर्शनों या कलाकारों द्वारा निर्मित रचनाओं के रुप में प्रकट होती है।

आधुनिक युग के आरंभ–काल तक की अधिकतर संस्कृतियों में पायी जाने वाली ऐसी कई छवियाँ विशेषतः देवताओं का तथा अन्य रूहों का मानवीय रुप में प्रस्तुतीकरण है। सामान्य रुप से उन्हें जिस तरह प्रस्तुत किया जाता है वह निश्चित ही और अक्सर कल्पनाशक्ति द्वारा किया गया वास्तविक सर्जन नहीं होता। वह केवल चिन्ह होते है; फॅन्सी या रोचक–कल्पना द्वारा निर्मित यांत्रिक प्रतिरुप। फिर भी, प्रायः इस तरह के प्रस्तुतीकरण की पार्श्वभूमी में थोडी अधिक मात्रा मे सच्ची कल्पनात्मक अनुभूति होती है। प्रारंभिक बौद्ध धर्म में ऐसी कलाकृतियाँ देखी जा सकती है जिनमें ब्रम्हांड की उत्पत्ती और प्रकृती के अध्ययन की प्राचीन भारतीय पद्धती का तथा देवगणों का 'रुपांतरित स्वरुप' देखने को मिलता है। इसी पार्श्वभूमी से महायान परंपरा ने प्रतिकात्मक बुद्धों तथा बोधिसत्वों से भरे समृद्ध ऐसे विश्व को उजागर किया। परंतु क्या यह देवता तथा रूहे या अन्य जीवात्माए और यह बुद्ध तथा बोधिसत्व; चेतनाधारी सजीवों के रुप में वाकई में अस्तित्व में होते है। क्या हमारी समझ–बूझ से स्वतंत्र उनका कोई अस्तित्व होता है? उनके अस्तित्व की स्थिती क्या है? कल्पनाशक्ति की प्रकृती तथा उसके अस्तित्व में होने की तत्वमीमांसा क्या है?

संघरक्षित का यह प्रतिवाद है कि यह प्रश्न काफी आदिम या मूल स्वरुप का है। ऐसा जो खुद अपने आप में ही अन्य कई सवालों को जन्म देता है। मिसाल के तौर पर एक प्रश्न यह हो सकता है कि 'अस्तित्व में होना' इसका अर्थ क्या है? अक्सर ऐसे प्रश्न भौतिक द्रव्यपदार्थों को ही वास्तविक मानने वाली सैद्धांतिक धारणाओं पर आधारित होते है। इस तरह कि धारणाँए जैसे कि भौतिक द्रव्यपदार्थों का विश्व ही एकमात्र विश्व है : या तो वहाँ नाप तोल के योग्य भौतिक वस्तुनिष्ठ बात है या फिर वह अस्तित्व में है ही नहीं। केवल भौतिक पदार्थों की दुनियाँ को ही वास्तविक दुनियाँ मानने वाले भी कल्पनाशक्ति की दुनियाँ को ठिक उसी तरह से नकार देते है जिस तरह से श्री ग्रडग्राईन्ड ने इसे सर्वथा नकार दिया था और वे केवल 'तथ्यों, वास्तविकता तथा यथार्थता' की मांग पर अड़े रहते है। इस तरह के दृष्टीकोण के मध्य में कल्पनाशक्ति के विषय में विचार करना भी हो तो वह या तो रोग–चिकित्सा, मनोरंजन या फिर प्रचार के संदर्भ में ही होता है। परंतु कल्पनाशक्ति 'है' और 'नहीं है' इन दोनों ही तर्कों को चुनौती देती है। कल्पनाशक्ति बीच के किसी अपवर्जित सिद्धांत को नहीं जानती : दोनों बाते हो सकती है A हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता। बोधिसत्वों और देवताओं का अस्तित्व हमसे स्वतंत्र भी है – और हम पर निर्भर भी है।

इससे पहले की हम तत्वमीमांसा की दलदल में बुरी तरह से धँसते चले जाए, चलिए इस मामले को और अधिक स्पष्ट रुप से आगे रखते है। दृष्य–स्वरुप दिखलायी देने वाले बोधिसत्व किसी भी भौतिक अर्थ से अस्तित्व में नहीं होते – ना उनकी तस्वीर खींची जा सकती है, ना उन्हें नापा जा सकता है और ना ही तोला जा सकता है और उदाहरणार्थ ना ही टेलिफोन द्वारा उनसे संपर्क किया जा सकता है। परंतु वे वास्तविकता के अभ्यांतर की ऐसी किसी चीज को साकार स्वरुप में दर्शाते है जो भौतिक पदार्थ से नहीं बल्कि चेतना से स्वाधर्म्य रखती है। संघरक्षित हाल ही के जापानी तत्वज्ञान में उन्हें

मिले एक शब्द की सहायता लेते है जो इन छवियों की प्रकृती तथा इनके अस्तित्व में होने की तत्वमीमांसा को स्पष्ट करता है, वह शब्द है 'नॉन–ऑन्टीक एक्सीस्टंस्'[15](प्रकृती–रहित अस्तित्व)।

अक्सर जब हम यह कहते है कि कोई चीज अस्तित्व में नहीं है तब हम ऐसा मान लेते है कि फिर वह इतनी महत्वपूर्ण नहीं है : जो भौतिक रुप से अस्तित्व में है केवल उसी का महत्व है। तथापि, नैतिक मूल्यों एवं आध्यात्मिक सत्यों का भौतिक ऐसा कोई अस्तित्व नहीं होता फिर भी वे अत्याधिक महत्व की है – एक मनुष्य होने के नाते, निश्चित रुप से वह हमारे लिए अन्य किसी भी भौतिक वस्तु से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। इस तरह प्रकृती–रहित होते हुए भी वे अस्तित्व में होते है। हमारी कल्पनाओं में उभरते प्रतिकों और अन्य छवियों को निश्चित ही हमने बेहद गंभीरता से लेना चाहिए और उन्हें उन्हीं की शर्तों पर लिया जाना चाहिए – विवादात्मक रुप से, भौतिक विश्व को हम जितनी गंभीरता से लेते है उससे भी कहीं अधिक गंभीरता से उन्हें लिया जाना चाहिए। ऐसा तब भी होना चाहिए, या विशेषतः तभी होना चाहिए जब प्रतिक स्वयं को हमसे स्वतंत्र ऐसे चेतनायुक्त सजीवों के रुप में प्रस्तुत करते है।

अभी इस मामले की छानबीन और भी करीब से किए जाने की आवश्यकता है। इन छवियों की ओर देखने का हमारा नजरिया क्या होना चाहिए इस बात को स्पष्ट करने के लिए संघरक्षित उन्नीसवीं सदी के अंत और बीसवीं सदी के आरंभ–काल के एक भूले बिसरे जर्मन दार्शनिक, हंस वाइहिंजर का हवाला देते है, जिसने उस जमाने में *द फिलॉसॉफि ऑफ 'ॲज इफ'* [16] नामक एक किसी समय प्रभावशाली रही पुस्तक लिखी थी। हंस वाइहिंजर खुद कॅन्ट, शोपनहॉअर तथा नित्शे और निसंदेह बर्कले और ह्यूम के दर्शनशास्त्र का अनुगमन करते हुए इस बात को स्वीकृत करते है कि हमारे बाहर की वास्तविकता तक हमारी सीधी पहुँच नहीं होती। शोपनहॉअर के *वॉरस्टेलंग* के अनुसार, एक दूसरें से कारणतः संबंधीत वस्तुओं की दुनियाँ के रुप में हम जिस दुनियाँ को जानते है वह केवल एक 'प्रातिनिधिक रचना' है। हम हमारी अनुभूतियों के विषय में इस प्रकार से सोचते है कि *मानो जैसे* वह हमारे इर्द गिर्द की दुनियाँ में फैली कोई वास्तविक वस्तुएँ है, जो कारणतः एक दूसरें को प्रभावित करती है। हम ऐसा इसलिए करते है क्योंकि यह व्यवहारिक उपयोग के लिए हमारे काम आता है फिर भले ही वह ऐसा विवेचन या ऐसी रचना ही क्यों ना हो जो कि अनुभूति की वास्तविकता के साथ पूरा पूरा न्याय ना कर सकती हो।

वाइहिंजर इस प्रकार के विवेचन को 'फिक्शन' या पल्पना का नाम देते है परंतु उनके लिए इस शब्द का अर्थ वह नहीं जो हम आम तौर पर समझते है, एक मिथ्या कथा या फिर मनगढ़त ऐसी कोई बात। परंतु इसके विपरित वाइहिंजर के लिए फिक्शन या पल्पना ऐसी एक कथा है जो किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों के तहत किन्हीं विशेष कारणों के लिए सच्चाई के जितना करीब होना संभव हो सकता है उतना या उस हद तक वह करीब होती है। आमतौर पर हम ऐसी रचना को वास्तविकता स्वरुप ही स्वीकृत कर लेते है परंतु हमें ऐसा करने की आवश्यकता नहीं। परोक्ष रुप से हमें स्वयं से यह कहना चाहिए कि 'यह रहस्यमय तथा अवर्णनीय अनुभूति वास्तव में कोई बाहरी दुनियाँ में सजी मेज नहीं है परंतु मैं इसके विषय में ऐसा विचार करूंगा कि *मानो जैसे* वह मेज वाकई मौजूद है', और हम उसके विषय में ऐसा ही विचार करते है क्योंकि तभी वह हमारे काम की है, यदि हमे हमारी किताब रखने हेतु किसी चीज की आवश्यकता जान पड़ती है तो (ऐसा कहने पर, निश्चित ही इसके लिए और भी अधिक विवेचन की आवश्यकता होगी)।

दवताओं तथा अन्य शरिर–रहित चेतनाओं का, बुद्धों तथा बाधिसत्वों का अस्तित्व इसी *मानो जैसे* वाले अर्थ से होता है – जो कि वास्तव में उन वस्तुओं की प्रकृती और अस्तित्व की तत्वमीमांसा से बिल्कुल भी अलग नहीं जो वस्तुएँ भौतिक द्रव्य पदार्थ के रुप में अपने आप को हमारे समक्ष प्रस्तुत करती है। इस अर्थ से हम उनका विवेचन इस प्रकार कर सकते है कि '*मानो जैसे* ' वह ऐसी चेतनायुक्त वस्तुएँ है जिनका अस्तित्व हमसें स्वतंत्र है क्योंकि कुछ विशेष कारणों के लिए कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में यह विवेचन उपयोगी सिद्ध होता है। हम उनकी ओर इस तरह से देखते है क्योंकि रहस्यमय और अवर्णनिय ऐसी अनुभूतियों को समझने हेतु हमारे पास उपलब्ध यह सबसे अच्छा विवेचन है। इस दृष्टीकोण से '*मानो जैसे*'

[15] इस शब्द का प्रयोग क्योटो स्कूल के एक जापानी दार्शनिक ने किया था, परंतु संघरक्षित कहते है कि इस शब्द का प्रयोग वह बिल्कुल ही अलग अर्थ से कर रहे है और इसलिए इस शब्दप्रयोग के मूल संदर्भ तक जाना उन्हे आवश्यक नहीं लगता।

[16] एच. वाइहिंजर, *द फिलॉसॉफि ऑफ 'ॲज इफ'* इनके प्रमुख तर्क का बहुत ही उपयुक्त ऐसा संक्षिप्त विवरण ब्रायन मॅगी लिखित, *द फिलॉसॉफि ऑफ शोपनहॉअर* पृष्ठ 301–5 में उपलब्ध है।

वाले विवेचन की कार्यसाधता ही उसकी वैधता भी है।[17]

परंतु कार्यसाधकता या फिर परिणामकारकता की व्याख्या इस बात के अनुसार होनी चाहिए की वह क्या कार्य कर रहीं है। कई बार अनेक अवसरों पर शारिरिक अस्तित्व की सुरक्षा तथा उसके मनोरंजन के लिए कारणतः एक दूसरे से संबंधीत वस्तुओं के जगत को मान्यता देना लाभदायी होता है – जैसे कि, वह धम्म–जीवन के अनुसरण के लिए भी लाभदायी है जब तक की व्यक्ति के पास मानव शरिर है। कल्पनाशक्ति के उन व्यक्तिसदृश्य प्रतिको को इस प्रकार से स्वीकृत करते हुए कि '*मानो जैसे* ' वह हमारी चेतना से स्वतंत्र ऐसी चेतनाएँ है, जब हम हमारे अस्तित्व को व्यापक रुप से देखते है तो वह नैतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टीकोण से भी परिणामकारक होता है। क्योंकि ऐसा करने से हम कल्पनाशक्ति की दुनियाँ में कदम रख सकते है और एक एक कर उसके पदानुक्रमों को पार करते हुए चीजों के अंतिम तथा परिपूर्ण सत्य को जान सकते है।

यह सारी बातें बुद्ध की शिक्षाओं के साथ सुसंगत है। अस्तित्व संबंधी सुनिश्चित वर्गों के रुप में धम्म केवल अस्तित्व तथा अनस्तित्व इन दो वर्गों की ही बात नहीं करता : बुद्ध ने निश्चित तौर पर इन्हें नकार दिया है, यह कहते हुए कि शाश्वतवाद तथा उच्छेदवाद के रुप में यह गंभीर ऐसी नैतिक तथा आध्यात्मिक समस्याओं की अगुआई करता है। इसके स्थान पर वह आकार में आने तथा आकार को छोड़ देने की बात करते है। अज्ञान एवं प्रज्ञा, तथा नितिमत्ता से युक्त कुशल तथा अकुशल इन के बीच का भेद ज्ञानमीमांसात्मक है। यह भेद ऐसा नहीं की जिसकी प्रकृती और अस्तित्व में होने के विषय की तत्वमीमांसा की जा सकती है। वह अस्तित्व तथा अनस्तित्व के बीच का होता है। चाहे वह चीजें कोई भी हो उन सभी की ओर इस तरह से देखा जाना चाहिए कि वह अनित्य है तथा ठोस–तत्व से रहित है और सभी ऐहिक वस्तुओं के विषय में यह बात जान लेनी चाहिए कि वह संपूर्ण तथा चिरस्थायी सुख प्रदान करने मे असक्षम है। चाहे किसी भी प्रकार की कोई भी अनुभूति क्यों ना हो उसे समझने हेतु हमें इसी प्रकार के विवेक को विकसित करने की आवश्यकता है। जिस रवैये में इस प्रकार का विवेक शामिल है और जो उस विवेक को विकसित करने में सहायता प्रदान करता है, वह है *मैत्री* का रवैया और हर उस चीज के प्रति *श्रद्धा* का जो धम्म को धारण किए हुए है।

संक्षेप में : जब हमारा किसी अनुभूति से आमना सामना हो तो यह जरूरी नहीं कि हम उसके अभौतिक अस्तित्व की सच्चाई के विषय में इस प्रकार से सोचना आरंभ कर दें कि क्या *वाकई में* ऐसी कोई चेतना कहीं पर अस्तित्व में है जिसका अस्तित्व हमसें स्वतंत्र है। हमें उसे परिस्थितियों के आधार पर उत्पन्न होने वाली अनुभूति के रुप में देखना चाहिए और साकारात्मक चैतन्य के साथ उसके निकट जाना चाहिए ताकि हम उसका अपने तथा अन्य लोगों के सच्चे कल्याण के लिए उपयोग कर सकें। और यदि वह अनुभूति धम्म को धारण किए हुए है, फिर चाहे वह किसी भी हद तक क्यों ना हो, तब निश्चित ही हमें उसे बेहद गंभीरता से लेना चाहिए और श्रद्धा के साथ उसे प्रतिसाद देना चाहिए और उसे इस बात की अनुमती प्रदान करनी चाहिए की वह हमें प्रभावित तथा प्रेरित करें। जब बुद्धों या बोधिसत्वों की छवियों के साथ हमारा आमना सामना होता है तब हम इसी चैतन्य के साथ उन्हें स्वीकृत करते है।

अंग्रेजी भाषा के रोमानी कवि विशेषतः कोलोरिज् और विलियम ब्लेक् के प्रति अपने ऋण को व्यक्त करते हुए संघरक्षित ठोस तथा धर्म–संबंधीत अर्थ से, धम्म–जीवन को जीने के साधन के रुप में 'कल्पनाशक्ति' इस शब्द का निवेश करते है; एक ऐसी आंतरिक शक्ति के रुप में कि जिसके माध्यम से हम वस्तुओं की वास्तविकता को ज्ञात कर सकते है – हम यह जान सकते है कि कल्पनाशक्ति कैसी है और वह जैसी है हम वैसे बन सकते है। संघरक्षित ने इस मुद्दे पर जो कुछ भी कहा है उसके विषय में हम कल्पनाशक्ति के एक नए बौद्ध सिद्धांत के रुप में बात कर सकते है। परंतु साथ ही यह बात भी स्पष्ट होनी चाहिए कि 'कल्पनाशक्ति' यह शब्द किसी भी विशिष्ट बौद्ध–शब्द का अनुवादित रुप नहीं है। हालाँकि, इस शिर्षक के अंतर्गत कई मूलभूत बौद्ध संकल्पनाओं को समाविष्ट किया जा सकता है। ऐसे किसी शब्द की आवश्यकता निर्माण होने की वजह है वर्तमान जगत की विशेष परिस्थितियाँ जिनमें इस आंतरिक शक्ति का केवल महत्व ही नहीं बल्कि उसकी वास्तविकता भी बड़े पैमाने पर लुप्त हो चुकी है। जिसका कारण है बढ़ता भौतिकवाद और उसके द्वारा किया गया इंद्रियों की महिमा का गुणगाण। इस कारणवश समझने बूझने की एक बिल्कुल ही अलग पद्धति को अपनाने की आवश्यकता निर्माण हो जाती है।

बौद्ध धर्म के इतिहास में ऐसी आवश्यकता इससे पूर्व इसलिए निर्मित नहीं हुई क्योंकि एक सांस्कृतिक तथा व्यक्तिगत सच्चाई

[17] यह विज्ज्नस्टाईन् के उत्तर–काल के दर्शन का स्मरण दिलाता है जो उसके आरंभिक पिक्चर थेअरी ऑफ मिनिंग को खारिज करते हुए अर्थ की इस प्रकार चर्चा करता है जो 'पुटिंग ऑफ अ टूल टू वर्क' (किसी उपकरण को कार्य में लगाने) से संबंधित है।

स्वरुप यह आंतरिक शक्ति पहले ही से स्वीकृत थी। जैसा जोर संघरक्षित मैत्री पर देते है वैसे ही इस क्षेत्र में वह उन मूल्यों की खोजबीन कर रहे है जिन्हें पारंपारिक समाज व्यवस्थाओं ने बिना किसी टीका या टिप्पणी के सहज ही अपना लिया था। परंतु आज उन विशिष्ट परिस्थितियों में जिन्हें विशेष पहचान दिए जाने की आवश्यकता है जहाँ उन का बुरी तरह से ऱ्हास हो चुका है या फिर वे लुप्त हो चुके है। सौभाग्यवश पाश्चिमात्य संस्कृतियों में अभी भी ऐसी परंपराए, साधन या शब्द उपलब्ध है जो बौद्ध उपयोग के लिए अनुकूल है।

अगर कल्पनाशक्ति के लिए किसी बौद्ध संदर्भ को देने की आवश्यकता हो तो हम पाँच चख्खुओ/चक्षुओं के साथ सहजता से उसका सहसंबंध स्थापित कर सकते है, जिनका पालि तथा महायान अठ्ठकथाओं दोनों ही में अपनी अपनी जरा सी अलग सूची के साथ उल्लेख है। मूल कल्पना यह है कि चक्षुओं की एक पदानुक्रमिक श्रुंखला है : 'माँस' चक्षु इस श्रुंखला में सबसे निचले पायदान पर है। उसके उपर है 'दिव्य' चक्षु जो मनस्तत्व शक्तियों से युक्त होता है। उसके बाद है 'धर्म' चक्षु जो चीजों को वैसे ही देखता है जैसे उनका वास्तविक स्वरुप होता है। और उससे भी परें है सच्चाई या भौतिक वास्तविकता को जानने वाले दो सर्वोच्च चक्षु जिनका वर्णन अलग अलग तरह से किया जाता है। इस में से हर एक चक्षु का खुलना क्रमशः एक के पश्चात एक इस तरह का होना चाहिए, जहाँ अगले चक्षु का खुलना पिछले चक्षु के खुलने पर आधारित होता है। आनुक्रमिकता से उच्चतर स्तरों पर कार्यरत कल्पना करने की आंतरिक शक्ति माँस चक्षु से उपर के सभी चक्षुओं से मेल खाती है – तथापि, 'चक्षु' को इस अर्थ से लेना चाहिए कि इसमें सभी इंद्रिय–शक्तियाँ समाविष्ट है। जिस प्रकार से संघरक्षित इसका उपयोग करते है उसके अनुसार धर्म चक्षु के उपर के जो चक्षु है उनमें 'प्रदिप्त कल्पनाशक्ति' के कार्य का क्षेत्र सम्मिलित है।

कल्पनाशक्ति की धारणा को लागू करने के लिए; धार्मिक–विकास के लिए आवश्यक सामग्री के रुप में उससे और भी बड़ी ऐसी जागृती की संकल्पना की आवश्यकता होती है – जिस जागृती को अक्सर इस तरह से देखा जाता है कि वह हमारे रोज मर्रा के जीवन की सर्वसामान्य सतर्कता है जिसे और अधिक तीक्ष्णता प्रदान करने की आवश्यकता है। जागृती एक बहुत ही समृद्ध तथा परिपूर्ण ऐसी सचेतना है जो आनंद प्राप्त करने की, समझने की तथा समानुभूति की कहीं अधिक संभावनाओं से युक्त है। साथ ही वह वर्तमान में हमारे भीतर मौजूद एक निश्चित ऐसी संभावना है। समय समय पर; फिर चाहे वह कितने ही सिमित तथा त्रुटिपूर्ण रुप से ही क्यों ना हो जागृती हमें हमारी पहुँच से परें की ऊँचाईयों तक उड़ा ले जाएगी। हमारी अनुभूति की बेहद आकर्षक ऐसी इस संभावना तक हम तुरंत ही पहुँच सकते है। यदि उससे भी आगे हम कल्पनाशक्ति का विकास चाहते है तो हमें हमारे *कर्म* पर कार्य करते रहना होगा क्योंकि कर्म की उन परिस्थितियों का निर्माण करते है जिनके आधार पर कल्पनाशक्ति फलती–फूलती है : जिसे कि शील, समाधी तथा प्रज्ञा के पुराने त्रिविध मार्ग में संक्षेप में दोहराया गया है। इससे पहले की हम कल्पनाशक्ति को विकसित कर सकें यह आवश्यक है कि हम हमारे भीतर उसे एक केंद्रिय महत्व की शक्ति के रुप में पहचाने और उसके फलने–फूलने के लिए उसे स्थान दें।

यह संघक्षित के अत्यंत महत्पूर्ण संदेशो में से एक है। एक ऐसी शिक्षा जो हमें यह समझने में सहायता प्रदान करती है कि समूचे विश्व की परिस्थितीयों के लिए जो महत्वपूर्ण और उपयोगी सिद्ध हो ऐसे बौद्ध आंदोलन को विकसित करने की क्या आवश्यकता है। जहाँ तक धम्म के संकल्पनात्मक सत्यों की बात है तो उसके लिए हमें जितना हमसे संभव हो उतना पिछे मुड़कर यह देखना चाहिए कि बुद्ध ने स्वयं क्या सिखलाया है और उसका उपयोग हमें हमारी परिस्थिति में करना चाहिए। जिसके लिए हम उत्तरकाल में उनके उपरांत विकसित हुई परंपराओं से प्रेरणा तथा मार्गदर्शन प्राप्त कर सकते है। परंतु जहाँ धम्म से जुड़ी संस्कृति और छवियों का विषय विचाराधिन हो वहाँ हमें खोज बीन की एक अनजान यात्रा पर निकल पड़ने की आवश्यकता है। हमें यह खोज निकालने की आवश्यकता है कि बुद्ध *हमें* कैसे दिखलायी देते है। हमें अपनी कल्पना में बुद्ध को खोजने की आवश्यकता है। उनकी छवि जिस रुप में हमारे भीतर अभिव्यक्त होना चाहती है उसे वैसे अभिव्यक्त होने की अनुमती देने की आवश्यकता है ताकि हम अपने अस्तित्व के हर पहलू के साथ उसे प्रतिसाद दे सकें – हमारी कल्पनाशक्ति के साथ और अंतिमतः हमारी प्रदिप्त कल्पनाशक्ति के साथ। यह आसानी से तथा तत्परता से होने जैसा कोई कार्य नहीं है। अनजान वस्तु की खोज की किसी भी यात्रा कि तरह इसकी मंजिल का पता नहीं और इस यात्रा की समाप्ती के लिए लगने वाला समय भी अनिश्चित है। परंतु अगर हम स्वयं धम्म–जीवन जीना चाहते है और वर्तमान विश्व के ह्रदय में धम्म के बीज बोना चाहते है तो हमें यह यात्रा करनी ही होगी।

इन मुद्दों पर संघरक्षित के साथ मेरी चर्चाओं में; हमारे भीतर पहले ही से मौजूद संवेदनशीलता को खोजने और उसे

विकसित करने का विषय बार बार हमारे समक्ष आता रहा। हमने यह पाया कि हम विशेषतः तीन क्षेत्रों मे कल्पनात्मकता से युक्त संवेदनशीलता को खोजने के लिए उत्सुक थे : जीवन के प्रति समानुभूति, सौंदर्य को प्रतिसाद देने तथा बुद्ध की छवि के साथ संबंध स्थापित करने के। इस निबंध के शेष भाग में; संघरक्षित के इन क्षेत्रों के विषय में जो विचार है उन्हें व्यक्त किया गया है। परंतु इस बात का हर वक्त ध्यान में रखा जाना आवश्यक होगा कि कल्पनाशक्ति के इस विषय की चर्चा करते हुए मै वारंवार 'मानो जैसे' वाले सिद्धांत को सहायता के लिए पुकार लगाता रहूँगा।

समानुभूति के रुप में कल्पनाशक्ति

लिव्हिंग विथ् अवेअरनेस इस पुस्तक में संघरक्षित यह टिप्पणी करते है कि 'मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि जिस विश्व के विषय में ऐसा सोचा जाता है कि वह चेतनाहीन है वह ऐसा विश्व नहीं हो सकता कि जिसमें किसी के भी बुद्धत्व प्राप्ती की जरा सी भी संभावना हो'।[18] किसी की भी उत्सुकता को जगाने वाला यह वाक्य उसी बात का एक हिस्सा सा प्रतित होता है जो उन्होनें अन्यत्र कहा था। जो उन्होंने पश्चिम में अगर बौद्ध धर्म को वास्तव में जड़े पकडनी हो तो देवताओं की प्रतिमाओं की पूजा करने की परंपरा के पुनरूज्जीवन की आवश्यकता होने के विषय में कहा था। इसका क्या अर्थ हो सकता है?

हमें सर्वप्रथम इस बात का स्मरण होता है कि सुत्तों में किए वर्णन अनुसार, मनुष्यों के अलावा भी बुद्ध के अन्य सभी प्रकार के जीवों के साथ अच्छे संबंध थे। पशुओं के साथ अनके सहानुभूतिपूर्ण संबंधों की कुछ कथाँए भी है, जैसे कि उस हाथी की जिसने 'उस स्थान को स्वच्छ किया जहाँ तथागत ठहरें थे तथा तथागत के उपयोग हेतु वह अपनी सूँड में पानी भर कर ले आता था'।[19] पृथ्वी के एकांत स्थानों पर निवास करने वाले अन्य शरिर–रहित जीवों के साथ संपर्क करते हुए भी उन्हें दिखाया जाता है और आकाश–व्याप्त कई प्रकार के देवताओं क साथ भी वह अच्छे संबंध रखते थे, जैसे की सक्क के साथ जो देवताओं का राजा था और बुद्ध के प्रति उसका व्यवहार बहुत ही आदरयुक्त था।[20] और अपनी मर्जी के अनुसार वह उससे भी परें के कई अधिक सूक्ष्म ऐसे दिव्य–लोकों में प्रवेश कर सकते थे, जहाँ हर लोक में उस लोक के अपने जीव रहा करते थे। उनका विश्व; वाकई में एक बड़े पैमाने पर अनुप्राणित विश्व था और उन्हें इस तरह प्रस्तुत किया जाता था कि वह उस विश्व के प्रति पूरी तरह से सजग थे तथा उसके प्रति सहानुभूति रखते थे।

क्या वर्तमान के बौद्धों को विश्व को इस प्रकार से अनुप्राणित देखना है? क्या हमें प्राचिन भारतीय देवताओं को भेंट वस्तुएँ अर्पण करना आरंभ कर देना चाहिए या फिर हम जहाँ पर भी रहते हो वहाँ उस स्थान के प्रभावशाली देवताओं का पुनरूज्जीवित करना चाहिए – जैसे की इंग्लंड में वोड्न या फिर वेल्स में ल्यू लॉ गाइफ्स...? उदाहरणार्थ, क्या अंग्रजी बौद्धों को नव–धर्म अनुयायी बन जाना है जो ग्रीष्म ऋतु के मध्य में बड़े सबेरे स्टोनहेंज् के पास कर्मकांड परक अधिष्ठान के लिए एकत्रित होते हो? ऐसा प्रतित होता है कि संघरक्षित के कहने का अर्थ बिल्कुल भी ऐसा नहीं है। युरोप के प्राचिन देवता तथा अन्य शरिर–रहित चेतनाएँ हमारे लिए उतने ही अजनबी है जितने की पूर्व देशों के धार्मिक देवता। हम उनसे अपना संपर्क खो चुके है और उपेक्षा देवताओं के लिए मृत्यु समान होती है, या कम से कम उनके किसी अवतार के लिए तो होती ही है। चाहे जो भी हो; हम; या फिर ऐसा भी कह सकते कि हम में से अधिकांश लोग अब दुनिया को उस तरह से नहीं देखते।

जिस बात पर संघरक्षित स्पष्ट रुप से जोर दे रहे है वह यह है कि हमें हमारी उस क्षमता की दोबारा से खोज करनी चाहिए जो हमारे इर्द गिर्द की दुनिया में स्थित जीवन को प्रत्यक्ष रुप से महसूस कर सकें; यहाँ तक की उसके साथ समानुभूति महसूस कर सकें : एक ऐसी क्षमता जो हमारे पूर्वजों के पास थी और जो जन्मजात हमारे भीतर भी है परंतु बचपन के छूटते छूटते अक्सर हम उसे खो देते है; विशेषतः ऐसे संस्कृतिक परिवेश में जहाँ भौतिकवाद की धारणाँए अत्यंत प्रबल होती है। भूतकाल और वर्तमान, दोनों ही संस्कृतियों के विधर्मी मूर्तिपूजक तथा जड़ात्मवादी ऐसा मानते है की उनकी जमीन के हर अंश

---

[18] संघरक्षित, *लिव्हिंग विथ् अवेअरनेस* `पृष्ठ 62

[19] *उदान,* IV,v, अनुवाद एफ. एल. वुडवर्ड, *द मायनर ॲनथॉलॉजीस् ऑफ द पालि कॅनॉन,* भाग II, *उदान* II,iii, भी पढ़िए, प्रणियों के साथ दयाभाव रखने के संबंध में उनके विचारों को जानने हेतु, इस विशिष्ट भाग में एक सर्प का उदाहरण है।

[20] संपूर्ण पालि सूत्त पिटको मे इसके संदर्भ उपलब्ध है परंतु *उदान* में कई ऐसे उदाहरण दिए गए है।

में देवता तथा अन्य रूहें वास करती है। वह ऐसा भी मानते है कि अगर व्यक्ति को एक यशस्वी जीवन की कामना तो उसे इन देवताओं और रूहों की ओर गंभीरता से ध्यान देना चाहिए। आज बहुतांश लोग अपनी इस क्षमता को खो चुके है। जहाँ तक हमें ज्ञात है, दुनियाँ के इतिहास में ऐसा पहली बार ही हुआ है कि एक ऐसी व्यापक स्तर पर की और अत्यंत प्रबल संस्कृति का निर्माण हुआ है जिसमें कई लोग दुनिया को मूलभूत रुप से चेतनाहीन समझते है और चीजों को अनुप्राणित सी देखने वाली कल्पनाशक्ति को उतना महत्व नहीं दिया जाता – और तो और उसका तिरस्कार भी किया जाता है। इसमें कोई शक नहीं कि अधिकांश मूर्खतापूर्ण तथा झूठी बातों का सफाया युरोपियन ज्ञानोदय* ने कर दिया था जिसने प्रोटेस्टंट धर्म–सुधार आंदोलन के साथ मिलकर पुरानी जड़ात्मवादी संवेदनशीलता पर कड़ा प्रहार किया और अब अधिकतर लोग उस उत्पीड़न और नियंत्रण से मुक्त है जिसके लिए अंधश्रद्धा का इस्तमाल किया जाता रहा था। परंतु इससे बड़े पैमाने पर लोगों का जिवित जगत के साथ का संबंध भी टूट गया और इस संबंध में हम अब पहले से कहीं अधिक निर्धन है।

आधुनिक युग की पाश्चिमात्य संस्कृति के शिक्षित लागों में इस क्षमता का कुछ हिस्सा जिवित दिखलाई पड़ता है, मुख्यतः कला में और विशेष रुप से काव्य में क्योंकि बहुत से कवि इस बात को लेकर गंभीर चिंता को जताते रहे है। अंग्रेजी भाषा के रोमानी कवि अपने युग के इस बढ़ते भौतिकवाद का खुलकर विरोध कर रहे थे। ऐसा विरोध वह मानवीय अनुभूति के औचित्य को स्थापित करने के द्वारा तथा प्रकृती को जिवित रुप में महसूस करने के स्पष्ट ऐसे आवाहन करके कर रहे थे। ऐसा प्रतित होता है कि स्वयं संघरक्षित में भी यह चेतना हमेशा ही जिवित रही है, जो विशेष रुप से उनके काव्य में भी अभिव्यक्त हुई है। वर्तमान में हमारी जो अप्रिय और कठिन ऐसी स्थिती है और जिससे बाहर निकलना भी मुश्किल है उसके विषय में 1952 में कलिंगपाँग में लिखि अपनी एक कविता द्वारा वह कुछ कहते है।

जड़ात्मवादी

आरजू मेरी है कि अपने घुटने टेक दू,
इस पुराने पहाड़ और इन वृक्षों के आगे।
तीन या चार हजार साल पहले
मै उनकी इबादत कर सकता था, जानता हूँ।
पर इस युग में गर करें कोई ऐसा
वे बंद कर ही देंगें उसे लोहे के पिंजरे में।
हमारी नजरो ने दुनियाँ को बना दिया है मूल्यहीन और छोटा
और हमने खो दिया है उसमें भरा अचरज ही सारा।[21]

ANIMIST

I feel like going on my knees
To this old mountain and these trees.
Three or four thousand years ago
I could have worshipped them, I know.
But if one did so in this age
They would lock him in a padded cage.
We've made the world look mean and small
And lost the wonder of it all

हमारे इर्द गिर्द की दुनियाँ के प्रति समानुभूति महसूस करने की इस क्षमता को दोबारा खोजना हमारे लिए आवश्यक है क्योंकि यहीं क्षमता नैतिक सदाचार का सच्चा आधार है। हालाँकि, कर्म के स्वभाव पर किया जाने वाला चिंतन हमें स्वार्थ के कारण किए जाने वाले अकुशल कर्मों को करने की आदतों का दमन करने के लिए उत्प्रेरित कर सकता है परंतु यह नैतिकता की शुरूवात भर ही होती है जो हमारे भीतर अधिक सच्ची तथा नैसर्गिक नैतिक–समझ के उत्पन्न होने के लिए जगह तथा संवेदनशीलता का निर्माण करने हेतु सहायता करती है। उदाहरण के तौर पर; हम माँस–भक्षण को बंद करने का निर्णय लेते है क्योंकि उस कर्म को करने के कारण भविष्य में होने वाले उसके परिणामों से हम वाक़िफ होते है। जब हम कुछ समय से शाकाहार करते चले आ रहे होते है तब हम अधिक संवेदनशील बन जाते है और इसलिए यह समझ पाते है कि एक भेड़ या गाय या सुअर भी उसी तरह के जिवित प्राणि है जैसे कि हम स्वयं है और इस कारणवश हम उनके लिए समानुभूति महसूस करेंगे – और आसानी से उन्हें नुकसान नहीं पहुँचा पाऐंगे; यह बात तो काफी दूर होगी की हम भोजन के लिए उनका कत्ल करवाए। कोई ऐसा भी कह सकता है कि आत्म–स्वार्थ भरे तर्कसंगत कारणों की वजह से माँस न खाने के कर्म का परिणाम यह होता है कि व्यक्ति पहले जिन पशुओं का भक्षण किया करता था बाद में उनके प्रति उसके मन में सच्ची समानुभूति का विकास होता है।

* अठ्ठारहवीं सदी का वह युग जब कई लेखकों एवं वैज्ञानिकों ने विज्ञान और तर्क को धर्म से अधिक महत्वपूर्ण दर्शाया।
[21] संघरक्षित, *कम्प्लीट पोयम्स्* ,1941–1994, पृष्ठ 135

नैतिक सदाचार सभी प्रकार के जीवन के साथ एकजूटता को महसूस करने से संबंधीत है, इस बात को प्रत्यक्ष रुप से स्वीकृत कर लेने से कि जैसे जिंदगी हमारे भीतर बसती है वैसे ही वह अन्य जीवों में भी बसती है। निश्चित तौर पर यह एक कल्पनात्मकता से भरी कृती है जो तर्कसंगत चिंतन से अधिक कुछ है – हालाँकि इस बात में कोई शक नहीं की सोच समझकर किया हुआ चिंतन इस प्रकार की समानुभूति को जगाने का माध्यम हो सकता है। कल्पनात्मकता के स्तर पर महसूस की जाने वाली यह समानुभूति प्रत्यक्ष और तत्काल होती है। इसके लिए किसी सोच विचार की आवश्यकता नहीं होती और शायद यह एकदम ही सहज रुप से महसूस होती है। कोई ऐसा भी कह सकता है कि यह अनुभूति अंतप्रेरित होती है। व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति या प्राणि के जीवन की धुन से निर्माण होने वाले संगीतमय कंपन को अपने भीतर महसूस करता है। वैसे ही जैसे जब किसी पियानों पर बजती धुन के साथ उस पियानों पर रखा फूलदान भी उस संगीत के कंपन के साथ कंपित होता है।

परिपूर्णता की खातिर हमें इस बात को स्वीकृती प्रदान करनी होगी कि यह भी नैतिक सदाचार का उच्चतम स्तर नहीं है। एक मार्ग ऐसा है जो आत्म–हितार्थ–अनुशासन रुपी सदाचार से आरंभ होता है और हमें नैतिक सदाचार के उस रुप की ओर ले जाता है जिसमें हम समानुभूति के आधार पर एक जीवन की दूसरे जीवन के साथ की लयबद्धता को महसूस करते है। यह मार्ग आगे जाकर हमें नैतिक सदाचार के उस अर्थ की ओर ले जाता है जिसमें सदाचार का स्वरुप ऐसा होता है जैसे किसी आत्म–आसक्ति से ऊपर ऊठ चुके व्यक्ति के मन में सहजप्रवृत्ती से उमड़ने वाला करुणा–भाव। आत्म–हितार्थ–अनुशासन रुपी नैतिक सदाचार, कर्म के सामर्थ्य के अंतर्गत इस तरह से मन का विकास करता है कि वह अधिक से अधिक परिपूर्ण रुप से समानुभूति को महसूस करता है : समानुभूति स्वरुप नैतिक सदाचार आत्म–स्वार्थ रहित करुणा के रुप में उमड़ पड़ता है जो कि एक अर्थ से नैतिक सदाचार से भी परे है। क्योंकि इसे किसी भी प्रकार के अनुशासन या नियंत्रण की आवश्यकता नहीं होती परंतु उसके बिना भी यह सहजप्रवृत्ती से सभी के अत्युच्च हित के लिए कार्य करता है।

संघरक्षित का कहना है कि यदि हमें नैतिकतापूर्ण आचरण करना है तो जीवन के प्रति सहजता से समानुभूती को महसूस करने की जो क्षमता हमारे पास थी उसकी हमें पुनः खोज करने होगी। बचपन में बीज रुप में ही क्यों ना हो परंतु यह क्षमता हमारे पास थी (हालाँकि उस वक्त इस क्षमता के साथ अक्सर हमारी असंवेदनशीलता के साथ कार्य करने की प्रवृत्ती भी जुड़ी होती थी)। पुनः खोज का रुपक अप्रत्यक्ष रुप से इस ओर संकेत करता है कि हमारा प्रयास किसी नई चीज की निर्मिती की इच्छा का नहीं बल्कि हमारी अनुभूतियों की ओर और भी अधिक करीब से ध्यान देने का है ताकि हम उसे देख सके जो पहले ही से उपस्थित है। यदि बारीकी से ध्यान दें तो हम ऐसा पाऐंगे कि हमारे इर्द गिर्द के जीवन के प्रति हम पहले ही से संवेदनशील है। यह ऐसा है कि हमारी सर्वसामान्य सजगता के स्तर के नीचे के किसी स्तर पर जीवन निरंतरता से जीवन के साथ संबंध बनाए रखता है – उस पार्श्वसंगीत की भाँति जिसकी व्यक्ति को आदत पड़ चुकी होती है और इस कारण उसका ध्यान उस ओर नहीं जाता। हम इस संवेदनशीलता को पहचानें इस बात की सर्वाधिक संभावना, उदाहरणार्थ तब होती है जब हम किसी घने वन या जंगल के मध्य में होते है। उस वक्त जो कुछ भी हो रहा होता है उसके प्रति यदि हम ग्रहणशील हो हम ऐसा कुछ अनुभव कर सकते है जिसका वर्णन एक स्पंदन के रुप में किया जा सकता है। यह स्पंदन एक तरह से उसी जीवन में से उत्पन्न हुआ होता है जिस जीवन से उस वक्त हम घिरें हुए होते है। इस तरह हर ओर से जिदंगी से अपने आपको घिरा हुआ महसूस करना बेहद शांतिदायक तथा तरोताज़ा कर देने वाला अनुभव हो सकता है।

समानुभूति की अनुभूति को महसूस करने के रुप का जो नैतिक सदाचार है वह केवल पशुओं या अन्य सजीवों को प्रतिसाद देने तक ही सिमित नहीं है। पूरी तरह से समानुभूति युक्त सजगता हर वस्तु में स्थित जीवन–गुण को प्रतिसाद देती है। फिर चाहे वह गुण पत्थरों में हो या के धातुओं में, तुफानों में हो या फिर सितारों में। यह बात वस्तुओं और पशुओं को मानवीय भावनाओं से युक्त देखने की नहीं है – जिसमें भावनात्मक होकर प्रकृती को मानवीय गुणों से युक्त देखा जाता है, हालाँकि उसे केवल एक मृत वस्तु के स्वरुप में देखने से तो यह कहीं गुणा अच्छा होगा। यहाँ पर व्यक्ति की अनुभूति का वर्णन कर सकें ऐसे भाषा के शब्द मिलना मुश्किल हो जाता है। परंतु, अजैव पदार्थों में या फिर नैसर्गिक घटनाओं में भी हम जीवन जैसे ही कुछ के स्पंदन को महसूस कर सकते है।[22] व्यक्ति के पास अगर इस प्रकार की संवेदनशीलता हो तो वह उसके अपनी

[22] संघरक्षित अपने अनुभव को याद करते है, उदाहरणार्थ तांत्रिक कला की एक प्रदर्शनी में रखे कुछ पत्थरों को देखने के; वे अण्डाकृती आकार के और नदी–तल के घर्षण के कारण काफी चिकने थे, ऐसा प्रतित हो रहा था जैसे उनमें से बहुत ही शक्तिशाली तरंगे उत्पन्न हो रही थी।

इर्द गिर्द की दुनियाँ के साथ पेश आने के अंदाज को प्रभावित करेगी जो उसे पर्यावरण को नष्ट करने या फिर बेवजह उसके साथ छेड़छाड करने के विषय में सतर्क बनाती है।

इस समानुभूति युक्त सतर्कता को पहचाननें की तथा इसे विकसित करने की शायद इससे भी और अधिक आवश्यकता है। अगर व्यक्ति इस तरह से गंभीरतापूर्वक संवेदनशील ना हो तो उसके लिए अन्य लोगों को नैतिक सदाचार से युक्त प्रतिसाद देना आसान नहीं होगा – उसके नैतिक सदाचार में इस तरह की गहरी समानुभूति की कमी रहेगी। इसमें कोई शक नहीं की बडे बडे शहरों के मध्य निवास करते हुए जहाँ प्राकृतीक जगत को एक प्रकार से दरकिनार कर दिया गया है, प्रकृती में रचे बसे जीवन को महसूस करना बेहद मुश्किल है – हालाँकि यह अन्य इन्सानों से ओतप्रोत भरा पड़ा है। शहरी जीवन के कृत्रिम वातावरण में तकनीकी मध्यस्ती से अनुभवों को प्राप्त किए जाने का वर्तमान जीवन–चलन हमें प्राकृतिक जगत से और भी अधिक से अधिक दूर करता है और इस कारणवश प्रकृति के प्रति हमें महसूस होने वाली हमारी अंतर्निहित समानुभूति से भी।

प्रकृती के प्रति की विमुखता हाल ही में बढ़ती पर्यावरण संबंधी जागृती तथा सक्रिय आंदोलनों के द्वारा प्रतिसंतुलित हो रही है। इसके पिछे लोगों को अभिप्ररित करने वाली जो आम बात है वह यह है कि वे इस बात को जान चुके है कि हम अपने ही घोसलें को गंदा कर रहे है और आने वाली पिढ़ियों के जीवन को खतरे में डाल रहे है। दूसरे शब्दों में, इसके पिछे का अभिप्रेरण है विवेकयुक्त आत्म–स्वार्थ : हमारे अपने कर्मों के विपाक को पहचानना। परंतु कुछ लोग ऐसे भी होते है कि जो इस वजह से अभिप्रेरित होते है क्योंकि वे उस प्राकृतिक जगत के प्रति अपनेपन की भावना को महसूस करते है, जिस जगत को हम खतरे में डाल रहे होते है : उनका नैतिक सदाचार समानुभूति युक्त होता है। अगर कभी हम किसी प्राकृतिक आपदा से बच पाए तो उस बात का एक संभाव्य फायदा यह हो सकता है कि जिस जीवन से हम घिरे हुए है उस जीवन के प्रति हमारे भीतर व्यापक रुप से साझी जागृती तथा सहानुभूति निर्मित हो सकती है। प्रकृती का अस्तित्व केवल मनुष्यों की मौज मस्ती के लिए नहीं है और ना ही मनुष्य को उसपर कोई अधिपत्य दिया गया है कि वह उसे अपने फायदे के लिए इस्तमाल करें। प्राकृतिक जगत जिवित है, जिंदगी से भरा–पूरा है और जिसके जीवन की धुन बिल्कुल हमारे जीवन के संगीत सी ही है और वह जीवन ही की तरह बहुमूल्य भी है। जितनी व्यापकता से हम इस बात को देख पाऐंगे उतनी इस बात की संभावना अधिक है कि हम वर्तमान शतक को उसके अंत तक देख पाऐंगे।

प्राकृतिक जगत के प्रति की समानुभूति अपने आप को एक और रुप में प्रकट करती है : विज्ञान, अर्थात भौतिक जगत और प्रकृती के नियमों के अध्ययन और ज्ञान के प्रति आकर्षण में। आज कई लोगों के लिए विज्ञान केवल तथ्यों की जानकारी मात्र से संबंधीत ना होकर कल्पनाशक्ति से संबंधीत है। प्रकृती की अचंभीत कर देने वाली प्रचुरता और विविधता, ब्रम्हांड और समय की विनीत कर देने वाली विशालता, यह सब कुछ लोगों में ऐसी तीव्र प्रतिक्रिया को जगाते है कि वह उन्हें उनके संकुचित से व्यक्तिगत दायरों के परें ले जाती है। अक्सर ऐसी प्रतिक्रिया व्यक्त की जाती है कि बहुत से अंतरिक्ष–यात्री अपनी अंतरिक्ष–यात्रा से लौटने पर अपना अनुभव इस प्रकार से कथन करते है कि सितारों के मध्य में अपने ग्रह को तैरते हुए देखते समय की उनकी अनुभूति कुछ आध्यात्मिक स्वरुप की थी। यह देखने पर कि हमारा अपना जीवन आकार में कितना छोटासा और एक वृहत्तर जीवन का अंश मात्र है, व्यक्ति उस आश्चर्यजनक रहस्य के प्रति सचेत हो जाता है जो हर तरफ से हमें घेरे हुए है। उस रहस्य को कभी भी पूरी तरह से जान पाना संभव नहीं परंतु केवल प्रशंसा प्रेरित आदरभाव तथा कृतज्ञता के साथ उसके समीप जाया जा सकता है। यह वह मुक़ाम है जहाँ कला तथ विज्ञान एक दूसरें में अभिसरित होते है।

आज हम अपने आपको ऐसी भिन्न सांस्कृतिक परिस्थितियों में पाते है जो भूतकाल से बिल्कुल भिन्न है और इसलिए यह कहना मुश्किल होगा कि प्राकृतिक जगत के प्रति पुनः संवेदनशील होने की बात कौनसा रुप धारण कर सकती है। जैसे जैसे अधिक से अधिक बौद्ध लोग अत्याधिक गहराई से कल्पनात्मकता–युक्त समानुभुती को पुनः प्राप्त कर लेंगें तब क्या वे अपने पूर्वजों की ही भांति वृक्षों और पर्वतों को मनुष्य रुप प्रदान करेंगें ? या फिर उस संवेदनशीलता के प्रकटीकरण का नया तरिका उत्पन्न होगा, जो कि अभी तक अकल्पित है? अगर बौद्ध धर्म वास्तव में अपनी जड़े पकड लेता है तो संघ के भीतर कल्पनात्मकता–युक्त समानुभुती निश्चित ही गहरी होती जाएगी और शायद अत्यंत व्यापकता के साथ भी। और तब इस आंतरिक शक्ति की पुनः खोज निश्चित ही एक नविन बौद्ध संस्कृति के माध्यम से अभिव्यक्त होगी। परंतु उसका विवरण करने के लिए हम अभी यह नहीं जानते की वह कैसी होगी और ना ही हम उसके प्रकट होने की दिशा का पूर्वानुमान लगा

सकते है। सिवाय यह कहने के कि उसका कहीं से प्रकट होना आवश्यक है अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। परंतु ऐसा संभव होने का आधार है वर्तमान में हमारे स्वयं के द्वारा किया गया कल्पनाशक्ति का विकास – हमारे स्वयं का दुबारा से यह खोज निकालना की हमारे इर्द गिर्द की दुनिया सजीव है।

अभी और भी कुछ कड़ियाँ ऐसी है जिनका एक दूसरें के साथ जुड़ना अभी बाकी है। कल्पनात्मकता–युक्त समानुभूति के विषय का अन्यत्र भली भाँति चर्चित विषयों के साथ संबंध स्थापित करने वाली कड़ियाँ। सबसे पहले हम इसका *मेत्ता* या मैत्री के साथ का संबंध देख सकते है जो कि समानुभूति का सक्रिय ऐसा आयाम है। जब हम सजीव वस्तुओं के साथ कल्पनात्मक समस्वरुपता को महसूस करते है तो हम उनके भले की कामना करते है और हम इस तरह से बर्ताव करना चाहते है कि हम उन्हें कोई नुकसान ना पहुँचाए और ऐसे कार्य करें जो उनकी भलाई के लिए हो। इस भाव में अधिक निश्चितता तथा गंभीरता तब आती है जब दो लोग एक दूसरें के बीच विद्यमान उस नैसर्गिक समानुभूति के प्रति सचेत हो, उन दोनों की पसंद तथा जीवन–मूल्य भिन्न हों और एक दूसरें को जानने समझने का समय उनके पास उपलब्ध हो : ऐसे में वे एक दूसरें के मित्र बन जाते है। जीवन की जीवन के प्रति की यह नैसर्गिक भावना उन्हें घनिष्ठतापूर्वक एक दूसरें के और भी करीब ले आएगी।[23]

समानुभूति करुणा का भी आधार है। जब हम इस विषय में सचेत हो जाते है कि अन्य लोग भी दुख में है तब हमारी नैसर्गिक समानुभूति पूर्ण प्रतिक्रिया यह होती है कि हम उनके दुख दूर हो जाने की कामना करते है और स्वयं उनके दूर करने की तीव्र इच्छा को महसूस करते है। अगर वास्तव में हम कल्पनात्मकता से युक्त ऐसे प्रतिसंवेदी व्यक्ति है तो हम अपने इर्द गिर्द की अत्याधिक पीड़ा और कष्ट को नजरअंदाज नहीं कर पाऐंगे और उस पीड़ा को दूर करने के लिए जो भी हमारे बस में हो वह हम करेंगें। कल्पनाशक्ति के इसी पहलू से हर प्रकार की करुणार्द्रतापूर्ण गतिविधियाँ प्रवाहित होती है – ऐसी गतिविधियाँ जो एक सच्चे बौद्ध जीवन का अभिन्न हिस्सा होती है। अन्य बातों के साथ ही साथ इसका एक और अर्थ यह भी होगा कि धम्म के तत्वों पर आधारित एक बेहतर ऐसे समाज की निर्मिती हेतु अन्य लोगों के साथ मिलकर कार्य करना।

अंतिमतः, एक संघ, जैसे कि त्रिरत्न बौद्ध महासंघ है, उसी नैसर्गिक समानुभूति पर निर्भर है। समानुभूति ही उसका आधार तथा उसके भविष्य की गारंटी है। कल्पनात्मकता–युक्त समानुभूति किसी व्यक्ति का या वस्तु का अपने ही सदृश्य व्यक्ति या वस्तु के लिए महसूस किया जाने वाला स्पंदन है। साम्य जितना अधिक होगा समानुभूति भी उतनी ही सशक्त तथा तीव्र होगी। हम विभिन्न स्तरों पर संघ के सदस्यों को जानते है : वे सभी एक ही वास्तविकता का अंश है, वे सभी स्वयं जीवन के ही साझेदार है, उन सभी में एक ही जैसी मानवीयता है और एक ही प्रकार से एक ही जैसे आदर्शों के प्रति वे प्रतिज्ञाबद्ध है – वे सब त्रिरत्नों को शरण–गमण करते है। इससे भी आगे बढ़कर वे इस हद तक समान भावना या उद्देश्य से संयुक्त होंगे कि उन्हें अपने स्वयं के भीतर धम्म के कार्यरत होने की प्रत्यक्ष अनुभूति होगी। एक संघ वास्तव में तभी एक संघ होता है जब उसका हर सदस्य उसी कल्पनात्मक समानुभूति के साथ हर दूसरे सदस्य के प्रति इसी प्रकार से परिपूर्ण तथा गंभीर अर्थ से सचेत होता है।

सुंदरता को प्रतिसाद देना

रोमानी कवि शेले कहते है कि 'नैतिक अच्छाई को प्राप्त करने का महानतम साधन है, कल्पनाशक्ति'।[24] इससे भी आगे बढ़कर वह यह प्रतिवाद करते है कि कला का, विशेषतः काव्य का कार्य यह होता है कि वह उस साधन को तराशे तथा उसे दोषरहित बनाए, उस कल्पनाशक्ति को ताकि वह और भी महानतम अच्छाई के लिए सक्षम बनें। अपने संपूर्ण कार्यकाल के दौरान संघरक्षित कला, नैतिकता तथा आध्यात्मिक जीवन के बीच के इस संबंध के विषय में निरंतर सोचते रहे है। एक बार तो कुछ समय के लिए यह उनके लिए यह उनके लिए समस्या का विषय बन गया था। इक्कीस वर्ष की आयु में जब गृहत्याग कर वे परिव्राजक बने थे तब उन्होनें कला तथा आध्यात्मिक जीवन के बीच के संबंध के स्थान पर एक संघर्ष को महसूस किया था। उन्हें ऐसा प्रतित हो रहा था कि काव्य के प्रति उनकी निष्ठा और धम्म के प्रति उनकी प्रतिज्ञाबद्धता यह

[23] सुभुती तथा सुभामती द्वारा लिखित, *बुद्धिझम् ॲण्ड फ्रेंडशिप* ।
[24] पी. बी. शेले, *अ डिफेंस ऑफ पोएट्री* ।

दोनो एक दूसरें को अनुकूल नहीं है और उन्हें ऐसा भी लगा कि एक के लिए उन्हें दूजे को त्यागना ही होगा। इस समस्या का हल उनकी बीस से तीस वर्ष की आयु के मध्यकाल में धीरे धीरे उनके सामने आया। विशेषतः यंग मेन्स् बुद्धिस्ट असोसिएशन, जिसकी स्थापना उन्होंने कलिंगपॉंग में की थी, के छात्रों को निजी अनुशिक्षक के रुप में अंग्रेजी साहित्य इस विषय का पाठ पढ़ाते हुए। उन्होंने पाया की जब वे शेले की *द क्लाऊड* इस कविता का महत्व कथन कर रहे थे तब वे उन्हें धम्म ही समझा रहे थे। उन्हें यह स्पष्ट हो गया था कि महानतम काव्य मानवी अनुभूतियों की गहराईयों को छूता है और ऐसे समय में असकी भेंट बुद्ध की शिक्षाओं के साथ होती है।

इस बात को पहचान जाने के कारण कि एक ऐसा भी क्षेत्र है जहाँ संयोगवश तथा आश्चर्यजनक रुप से धम्म तथा कला एक दूसरें से मेल खाते है, उन्होंने इस विषय को लेकर कई निबंध लिखे जिनमें उन्होंने इस विषय पर खोज बीन की है कि '..... यह तथ्य कि धम्म तथा कला की मूलभूत एवं महत्वपूर्ण विशेषता एक ही है, और यह भी कि सुन्दरता केवल सत्य ही नहीं बल्कि अच्छाई भी है'।[25] इस श्रृंखला में उनकी प्रमुख कृती है *द रिलिजन ऑफ आर्ट,* जो उन्होनें लिखी तो थी 1953 में परंतु 20 साल तक उसे प्रकाशित नहीं किया गया था। क्योंकि यह इतनी प्रारंभिक रचना है कि जिसके विषय में लोगों को थोडी बहुत ही जानकारी है और इसका बहुत ही थोडा अध्ययन किया गया है। यह बेहद अफसोस की बात है क्योंकि उस रचना में ऐसी बातें रखी गई है जो शायद वर्तमान जगत में और विशेषतः पश्चिम में बौद्ध धर्म के विकास के लिए संघरक्षित के सबसे महत्वपूर्ण योगदानों में से एक है। उनके अनुसार कला का सर्जन तथा कला की सराहना एक ऐसी उपजाऊ जमीन है जिसमें धम्म फिर एक बार अपनी जड़े पकड सकता है। ऐसा इसलिए क्योंकि युरोपिय सभ्यता में कला ने हमेशा ही अपना एक प्रमुख स्थान बरकरार रखा है।

जहाँ एक ओर ईसाइयत ने योजनाबद्ध तरिके से पश्चिमी सभ्यता में कल्पनाओं की मुक्त अभिव्यक्ति को नियमित गती से तथा धीरे धीरे नियंत्रित किया, यहाँ तक की उसका दमन भी किया वही दूसरी ओर उच्चस्तरिय काल्पनिक जीवन का वजूद शिक्षित लोगों के बीच बचा रह पाया था। इसका कारण था प्लेटो तथा हरमेटिक दर्शनशास्त्र का बच जाना और साथ ही सौंदर्यशास्त्र की परंपरा की उत्क्रांती जो आध्यात्मिक संभावनाओं की खोज महज कला के तौर पर नहीं बल्कि उससे भी परे जाकर करती है। संघरक्षित का यह मानना है कि वे विशेषतः युरोप के कलाकार तथा कला–प्रेमी ही थे जिन्होंने वास्तविक आध्यात्मिक जीवन के विषय की चेतना को जिवित रखा और उनका यह भी मानना है कि अगर पश्चिम की कल्पनाशील दुनियाँ में बौद्ध धर्म को जिवित रहना है तो उसे उस परंपरा के साथ के अपने संबंध को पहचानना चाहिए। इस बात की भी संभवना है कि बौद्ध–कल्पनाशीलता की दुबारा खोज करते हुए भारतीय बौद्ध जिन समस्याओं का सामना कर रहे है उसका समाधान भी सौंदर्यपरक संवेदनशीलता के विकास में हो।

द रिलिजन ऑफ आर्ट मे पेश दलील का वर्णन यहाँ अत्यंत सरल रुप से किया गया है जब की उस रचनाकृती में कुछ बेहद गंभीर ऐसी खोज को अत्यंत उच्चस्तर की विचारोत्तेजक शैली में पेश किया गया है, जिसके विषय में संक्षेप में नहीं कहा जा सकता। मूलतः संघरक्षित कहते है कि धर्म (और धर्म से उनका तात्पर्य उसके मूलभूत स्वरुप से है : अर्थात धम्म से है) का संबंध आत्म–स्वार्थ रहितता को विकसित करने से है और यह कि कला में जो कुछ सर्वोत्कृष्ठ होता है वह भी इसी दिशा में अग्रसर होता है।

संघरक्षित कला ही एक बहुत ही महत्वपूर्ण ऐसी व्याख्या करते है :

> कला इंद्रिय–अनुभूतियों का सुनियोजित रुप से आनंददायक रुपात्मक संबंधो में प्रस्तुत किया जाना है जो कलाकार की संवेदनशीलता को अभिव्यक्त करता है और उसके दर्शकों तक मूल्यों के ऐसे अर्थ को पहुँचाता है जो उनके जीवन को परिवर्तित कर सकता है।

उपरोक्त निबंध में इस परिभाषा का विश्लेषण निश्चित ही गहराई से किया गया है, परंतु यहाँ इस निबंध में प्रस्तुत विषय की दृष्टी से महत्वपूर्ण ऐसे कुछ मुद्दों पर फिर से एक नजर दौड़ाना निश्चित ही लाभदायक सिद्ध हो सकता है। कला रचनात्मक सर्जन की कृती है; जिसमें हमारी इंद्रिय–अनुभूतियों को सुनियोजिन रुप से नई संयोजनाओं में इस तरह से इकठ्ठा कर सामने रखा जाता है कि वह हमें आनंद प्रदान करता है। जब हम रचनात्मक कलाकृतियों को अनुभव कर रहे

[25] संघरक्षित, *द रिलिजन् ऑफ आर्ट*।

होते है तब वह हमें प्राप्त होने वाला आनंद ही होता है जो उन कलाकृतियों को एक सम्मोहक शक्ति प्रदान करता है और आध्यात्मिक अनुभवों की वृद्धी के माध्यम के रुप मे कला के प्रभावशाली होने का भी प्रमुख कारण यही है।

सौंदर्यपरकता का पदानुक्रम

परंतु, केवल आनंदायक संवेदनाए अकेले ही कला को निर्मित नहीं कर सकती। सबसे पहले तो हमें आनंद प्रदान करने वाली उन संवेदनाओं में भेद करना होगा। एक वह जो हमारी आत्म–आसक्ति की वृद्धी करती है और दूसरी वह जो कुछ हद तक हमें हमारे दायरों से परे ले जाती है। हमारे जीवन में उदित होने वाला अधिकतर आनंद हमें केवल हमारी क्षुधाओं की संतुष्टी से ही प्राप्त होता है – इसपर शायद कोई यह प्रतिवाद उपस्थित कर सकता है भोजन तथा यौन–संबंधो से प्राप्त सुख को वास्तविक सौंदर्यात्मकता के स्तर तक ऊँचा ऊठाया जा सकता है। परंतु वास्तव में वह केवल तणाव से राहत पाना ही होता है। फिर चाहे वह निष्कपट तथा अपेक्षाकृत मासूमियत से भरी अंतप्ररणाओं पर आधारित प्रकार का हो या फिर अत्याधिक जटिल तथा विकृत प्रकार का हो, वैसे ही जैसे किसी को हिंसा में भी आनंद प्राप्त हो सकता है। पालि सुत्त पिटकों में बुद्ध ने *समीस* तथा *निरामिस* वेदना के बीच के भेद को स्पष्ट किया है, जिनका अनुवाद आमतौर पर सांसारिक तथा असांसारिक आनंदभोग की अनुभूतियों के रुप में किया जाता है। समीस या सांसारिक अनुभूतियाँ सुखद, दुखद या तटस्थ प्रकार की होती है इनके उदित होने का कारण होता है संतुष्टी, कुंठा या फिर संस्कारितता के चक्राकार स्वरुप से संबंध रखने वाली इच्छाओं के लिए उत्तेजना की कमी होना (यह बात काफी दिलचस्प है कि कभी कभी सुत्तों में इस वेदना की परिभाषा 'गृहस्थ की वेदना' के रुप में की गई है), जबकी निरामिस या असांसारिक आनंद भोग की अनुभूतियाँ वह अनुभूतियाँ है जिनके उदित होने का कारण धम्म–मार्ग से संबंधीत है (जिसके विषय में 'परिव्राजक की वेदना के' तौर पर बात की जाती है)।[26]

सर्वसाधारण क्षुधाओं पर विचार करने के उपरांत जो अब शेष रह जाती है वह ऐसी आनंददायक संवेदनाए होती है जिनका भावनात्मक प्रभाव निश्चित ही सकारात्मक होता है : जो ना केवल तणाव से राहत दिलाती है बल्कि हमें हमारे दायरों से और भी अधिक ऊँचा ऊठा देती है, या फिर कम से कम वह इतना तो करती ही है कि हमारे इर्द गिर्द जो जीवन व्याप्त है उस जीवन के प्रति हमारे भीतर समानुभूती को जगा देती है। अनुभूति के इस आयाम का जिक्र हम सौंदर्यपरकता के रुप में कर सकते है और इस शब्द के इस्तमाल को हम कल्पनात्मकता–युक्त प्रतिसादों की उस व्यापक श्रेणी के लिए बचाकर रखेंगे जो प्रतिसाद हमें उन सारी बातों को देना है जो हमें क्षुधाओं की संतुष्टी से प्राप्त होने वाले आनंद से परे का आनंद प्रदान करती है। इस शिर्षक के अंतर्गत आने वाली सारी ही बातों का संबंध कला से नहीं है परंतु वे ऐसी है जिनका संबंध सौदर्यपरकता की अनुभूति के उच्चतर क्षेत्रों से होता है। संघरक्षित सौंदर्यपरकता की एक पदानुक्रमिक श्रेणी पर जोर देते है, जिसमें वे मनोहर (the pretty), रमणीय (the lovely) तथा सुंदर (the beautiful) के बीच भेद करते है।

मनोहरता (prettiness) किसी उपनगरीय बगीचे की पूरी बहार का आनंद है – जो आनंददायक तो होता है परंतु मन को ऊँचा ऊठाने वाला नहीं। रमणीयता (loveliness) हमारी साँसों को थाम लेती है और क्षणभर के लिए हमें अपने बंधन में बांध लेती है, ठिक उसी तरह जब हम किसी टिले की चोटी पर से नीचे की तरुपंक्ति का दृष्य देखते है। ऐसी अनुभूतियाँ भावनात्मक रुप से भले ही हमें तरोताजा करती हो परंतु अकेले उनका हमारें संपूर्ण मूल्यों तथा जीवन की दिशा पर कायम रहने वाला प्रभाव अल्पसा ही होता है।

सुंदरता (beauty), मनोहरता तथा रमणीयता में एक बात साझी होती है और वह है इंद्रिय–अनुभूनियों द्वारा प्राप्त परिष्कृत आनंद जो हमें भावनात्मक रुप से खुला हुआ महसूस करवाता है। परंतु सुंदरता उस आनंद के साथ नैतिक मूल्यों तथा आध्यात्मिक अर्थ को भी संयुक्त कर देती है। इस तरह से नहीं कि किसी चीज को अलग से प्रदत्त किया गया हो बल्कि वह उसे उसी अनुभूति के अभिन्न हिस्से की तरह संयुक्त करती है। संदरता, सच्चाई तथा भलाई को वाकई में एक ही बंधन में बांध दिया जाता है। सौदर्य संपन्न चीजें हमे इस तरह प्रभावित करती है जैसे हमारे दिल को हमसें परे की किसी चीज ने छू लिया हो; अर्थात हमारी आत्म–आसक्ति के परे की किसी चीज ने। वह हमारी समझ बूझ की ऐसी संभावनाओं की ओर संकेत करती है जिसमें समझने की प्रक्रिया में ना तो वस्तु के उपयोग की कोई भूमिका होती है और ना ही उन्हें नाप–तोल का

[26] मज्जिम निकाय 10, *सतिपट्ठान सुत्त,* और मज्जिम निकाय 137, *सलायतनविभंग सुत्त*।

प्रमाण लगाकर देखा जा सकता है, जो हमारे नाप–तोल, तर्क–वितर्क तथा सौदेबाजी करने वाले मन को संभ्रम में डाल देता है। संदरता हमें चीजों के अंतिम रहस्य के संपर्क में ले आती है और हम उन अत्यंत गहरी उर्जाओं को महसूस करते है जो अस्तित्व को आकार प्रदान करती है; अर्थात सभी वस्तुओं में विद्यमान उर्ध्वगामी गतिशीलता को। यह संपर्क एक भिन्न तथा बेहतर जिंदगी को जीने की सशक्त ऐसी चुनौती को हमारे समक्ष रखता है। कला में जो भी सर्वोत्कृष्ट है, विवादात्मक रुप से कहा जाए तो जो वास्तव में कला है उसमें यह चुनौती हमेशा उपस्थित रहती है।

तद्नुसार, कला का संबंध मनोहरता तथा रमणीयता के साथ होने के स्थान पर इस अर्थ की सुन्दरता के साथ होता है जिस अर्थ से हम यहाँ उसे देख रहे है : एक सच्चा कलाकार सदैव ही उस हाथ न आने वाले मायावी से रहस्य की तलाश में रहता है जो उसकी कलम की टोक से या फिर रंग की कूची से कुछ ही अंतर पर मँडराता रहता है। सुंदरता की उस तलाश में से ही ऐसी रचनाएँ निर्मित होती है जो ना केवल इंद्रियों को आनंदित करती है बल्कि उन नैतिक मूल्यों के साथ भी संपर्क स्थापित करवाती है जो उन वस्तुओं के हृदय में केंद्रित होते है। ऐसी रचनाएँ हमें इस बात के लिए उत्तेजित करती है कि हम हमारे जीवन को परिवर्तित करें। इंद्रियों को सुखद लगने वाली इस सुंदरता के भीतर अर्थ का मूल्यों के साथ का जो ऐक्य होता है वह संकल्पनाओं के दायरों के परे का होता है, फिर भी संकल्पनाए हमें उसकी सराहना करने हेतु सहायता प्रदान कर सकती है। फिर एक बार हम कल्पनाशक्ति के क्षेत्र में है : वास्तविक कला प्रत्यक्ष रुप से कल्पनाशक्ति के साथ संपर्क करती है। बिना किसी शाब्दिक अनुवाद के भी हम कलात्मक रचना के प्रभाव को महसूस कर सकते है। ऐसी कला की निर्मिती होती है, कलाकार द्वारा स्वयं चयन किए हुए माध्यम में उसके द्वारा हासिल कौशल्य के उसकी उच्चस्तरिय कल्पनाशक्ति के साथ के संयोजन से – जिसमें उस कलाकार की संवेदनशीलता भी शामिल होती है। वह कल्पनाशक्ति या संवेदनशीलता सीधे उन लोगों की संवेदनशीलता के साथ संपर्क स्थापित करेगी जिनका ऐसी कलात्मक–रचना के साथ आमना–सामना होगा। ताकि वह उन नैतिक मूल्यों के साथ साझा रिश्ता महसूस कर सकें जो मूल्य उस कलात्मक–रचना के निर्माता के लिए महत्वपूर्ण है।

तद्नुसार, धम्म के दृष्टीकोण से कला का सबसे बड़ा महत्व यह है कि वह कल्पनाशक्ति को आकर्षित करती है, जो, जैसा कि हम पहले देख ही चुके है कि आध्यात्मिकता की वृद्धी तथा उसकी अंतिम अनुभूति का साधन है। कला ना केवल कल्पनाशक्ति को लुभाती है बब्ल्कि वह उसे प्रशिक्षित तथा परिष्कृत भी करती है। सुंदरता और कला से संबंधित बातों की सराहना करते हुए, फिर चाहे वह मनोहरता के रुप में ही क्यों ना हो, परंतु अगर वह सराहना विशेष रुप से सौंदर्य के रुप में की गई हो तो हम हमारी कल्पनाशक्ति को कार्यप्रवृत्त तथा उसे विकसित करते है। वास्तविक कला हमें अनुभूतियों के ऐसे विभिन्न प्रकारों तक पहुँचाती है जो पहले हमारी पहुँच से दूर हुआ करते थे। वह शायद अंतिम सुंदरता की उस झलक को भी हम तक पहुँचा सकती है जो कि बोधि का मूलतत्व है – ऐसी सुंदरता जो उच्चस्तरीय संतुष्टी को वास्तविकता के गहरे से गहरे भेद के साथ तथा समस्त जीवन के प्रति महसूस होने वाली संपूर्ण एवं सक्रिय भावना के साथ परिपूर्ण रुप से सम्मिश्रित करती है।

यहाँ पर चेतावनी का एक शब्द कहना आवश्यक हो जाता है : केवल कला ही अपने आप में पर्याप्त नहीं है। ऐसा प्रतित होता है कि व्यक्ति सर्वाधिक चुनौती भरी कला की भी केवल एक आनंददायी अनुभूति के रुप में सराहना कर सकता है : व्यक्ति उस कला की सुंदरता से अछुता रहते हुए भी उसकी रमणीयता को महसूस कर सकता है। इस संबंध में संघरक्षित अमेरिका के झेन् रोशी, फिलिप् कापल्यू के अनुभव को याद करते है। द्वितिय विश्व युद्ध की समाप्ती पर, कापल्यु रोशी, उन मुकद्दमों में उपस्थित थे जो प्रभावशाली नाझीयों पर युद्ध के दौरान उनके द्वारा किए गए गुनाहों की सुनवायी के लिए चलाए जा रहे थे। वह इस बात को जानकर बेहद अचंभित महसूस कर रहे थे कि उन में से कई लोग बेहद उच्च–संस्कृत थे और उनमें कला के प्रति सशक्त सराहना का भाव था, विशेषतः संगीत के प्रति। और फिर भी अत्यंत भयंकर ऐसे अमानवीय बर्ताव को करने में वे समर्थ थे। वह अपना पूरा दिन सामुहिक हत्याकांडो के आदेश देते हुए या उन हत्याकांडो का पर्यवेक्षण करते हुए बिता सकते थे और फिर शाम को बिथोवन् का संगीत सुनने के लिए अपने कार्य से निवृत्त हो सकते थे। भले ही कला कल्पनाशक्ति को कार्यप्रवृत्त करने का माध्यम है परंतु सर्वसामान्य रुप से कहा जाए तो कला केवल अकेले अपने आप में ही धम्म मार्ग के अनुसरण के लिए पर्याप्त नहीं है। जागृतीपूर्वक किए गये धम्म–आचरण विशेषतः शीलों के आचरण के रुप में तथा दृष्टीकोण की स्पष्टता के आभाव में कला सरलता से एक अतिभोग या फिर एक भ्रांति का विषय बन जाती है। कला को धम्म की आवश्यकता है, ठिक उसी प्रकार से जिस प्रकार से धम्म को कला ही आवश्यकता है; अगर वर्तमान समय में वह

अपनी जड़ो को मजबूत करना चाहता है तो।[27]

सौंदर्यपरकता–संपन्न कल्पनाशक्ति का विकास

द रिलिजन ऑफ आर्ट इस निबंध में संघरक्षित बेहद पुरजोर रुप से यह कहते है कि बौद्ध धर्म का आचरण करने वाले व्यक्ति को सक्रिय रुप से सौंदर्य तथा कला संबंधित जीवन में भी पूरा पूरा ध्यान केंद्रित करना चाहिए। वाकई, इस बात में कोई शक नहीं कि अगर कोई व्यक्ति वस्तुओं के सौंदर्यपरक गुणों के प्रति अधिक से अधिक परिशुद्ध प्रतिसाद को विकसित नहीं कर रहा है, और विशेषतः उन वस्तुओं के प्रति जो वाकई सुंदरता को अभिव्यक्त करती है तो इस बात की संभावना नगण्य है कि वह अपनी कल्पनाशक्ति का विकास कर पाए; जो कि धम्म–जीवन की यात्रा का साधन है। हम पहले ही से इस बात को देख चुके है कि संघरक्षित इस बात को स्पष्टता तथा बलपूर्वक कहते है कि ऐसा विश्व जो जीवन–रहित है वह ऐसा नहीं है कि जिसमें बुद्धत्व प्राप्ती की संभावना है। उसी तरह हम यह भी कह सकते है कि जो मन सुंदरता को प्रतिसाद देने में सक्षम नहीं है वह ऐसा नहीं है कि जो बुद्धत्व प्राप्त कर सकें। तद्नुसार, सौंदर्यपरकता का विकास यह वर्तमान जगत के बौद्ध धर्म का प्रमुख विचार होना चाहिए। हमारे संघ की पहचान एक अत्यंत सक्रिय ऐसी सौदर्यपरकता से युक्त संस्कृती के माध्यम से होनी चाहिए। संघ–सदस्यों को चाहिए कि वह जितना उनसे संभव हो सके उतना अपने इर्द गिर्द सौंदर्य की निर्मिती करते रहें और अपनी स्वयं की संस्कृती में भी सक्रिय रुप से सुंदरता की खोज जारी रखें।

संघरक्षित का कहना है कि जो कोई भी अपनी सौंदर्य तथा कला संबंधीत कल्पनाशक्ति का विकास करना चाहता है उसके लिए सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि वह उन बातों के साथ समय व्यतीत करना छोड दे जो कि बदसूरत है। यह जरूरी है कि जिन बातों को हम अपने मन के भीतर प्रवेश करने दे, उनके विषय में हम भेद करने की आदत को विकसित करें। क्योंकि जैसे सौंदर्य या कला संबंधीत दृष्टीकोण से आनंददायक लगने वाली किसी वस्तु का मन पर सकारात्मक प्रभाव होता है, वैसे ही जो वस्तु भद्दी या अपरिष्कृत है वह मन पर नकारात्मक प्रभाव डालती है। कदाचित हो सकता है कि हम इतने जागरूक ना हो कि हम इस प्रभाव को देख पाए और बेखबर होने के कारण अपने आप को ऐसी चीजों से घेरते चले जाए जो हमारी कल्पनाशक्ति को कुंद या विरुप कर देती हो। इस दृष्टीकोण से धम्म संपूर्णतः सापेक्षवाद के खिलाफ है जिसे अत्यंत व्यापक एवं आदर्शपूर्ण रुप से मानदण्ड स्वरुप माना जाता है। कला केवल वह नहीं है जो लोगों की पसंद होती है। कला में सौंदर्य का पदानुक्रम *होता है* और कला को उस बात से अलग *किया जा सकता है* जो कि कला नहीं है – भले ही उनके बीच की सीमा रेखा को तय करना हमेशा ही उतना आसान ना हो।

धर्म के संदर्भ में इस मामले को अधिक मुश्किल बनाया जाता है। अधिकतर कलाकृतियाँ जिन्हें धार्मिक कलाकृतियों के स्वरुप में स्वीकृती मिल जाती है, वह निश्चित ही कला नहीं कहलायी जा सकती – और इसलिए वह किसी भी अर्थपूर्ण रुप से धार्मिक भी नहीं हो सकती। संघरक्षित धर्म और कला से संबंधीत चार वर्गों के बीच भेद करते है – यहाँ पर धर्म का अर्थ है, वह जो कि आत्म के दायरें से ऊपर ऊठने से संबंधीत है और ना कि सिर्फ पारंपारिक धर्मपरायणता। एक कला ऐसी होती है जो रुप और आकार में तो धार्मिक होती है परंतु यह आवश्यक नहीं की वह मौलिक रुप से भी धार्मिक हो : जैसे कि वर्जिन् मेरी की रूचिहिन प्रतिमाएँ या फिर गणेश के भड़किले रुप में छपे चित्र, यह धर्मपरायण विषयवस्तु को दर्शाते तो है परंतु किसी भी सच्ची धार्मिक भावुकता तथा सौंदर्यपरक गुणवत्ता को अभिव्यक्त नहीं करते। दूसरे, ऐसी भी कला होती है जो ना तो रुप और आकार में धार्मिक होती है और ना ही अपने मौलिक रुप में : अधिकतर लोकप्रिय कला–संस्कृतियाँ इसी प्रकार की है, जैसे की शायद व्यवसायिक कलादालनों में विक्रि के लिए रखा गया अधिकतर कला का साजो सामान। तिसरे, ऐसी कला होती है जो अपने मौलिक रुप में तो धार्मिक होती है परंतु रुप और आकार में नहीं : चिनी भू–दृष्यों का चित्रण, शेले की काव्य रचनाओं में से कुछ सर्वोत्कृष्ट रचनाएँ और बिथोवन् का अधिकतम संगीत; ऐसा संघरक्षित का कहना है; जिसमें

[27] यह दिलचस्प है कि यह बात उन सारी चीजों पर भी लागू होती है जिन्हें धम्म–जीवन के साथ सुसंगत या फिर धम्म–जीवन को जीने को साधन भी माना जाता है। मैं मानवीय संभाषण के अहिंसात्मक संवाद (जिसे आमतौर पर NVC के नाम से जाना जाता है) के अंतर्गत दिए जाने वाले प्रशिक्षण की उपयोगितता से अचंभित हो गया था, जिसका ध्येय है औरों के लिए समानुभूति महसूस करने के आधार पर उन के साथ कुशल–संवाद स्थापित करना। परंतु सम्यक दृष्टी की स्पष्टता और नैतिक शीलों के आचरण के आभाव में सरलता से उसका दुरुपयोग किया जा सकता है – और मेरे व्यक्तिगत निरिक्षण में अक्सर ऐसा होते हुए मैनें देखा है।

कोई तारकोव्स्की की कुछ चुनिंदा फिल्मों को भी जोड़ सकता है ताकि कला के उत्क्रांत होते स्वरुप के साथ बना रहा जा सकें। अंत में ऐसी भी कला होती है जो कि अपने मौलिक रुप में तथा रुप और आकार दानों ही में धार्मिक होती है : बुद्ध की सर्वोत्कृष्ट प्रतिमाएँ इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।

सौंदर्यपरक बातों के बीच भेद करने की क्षमता को विकसित करने के साथ–साथ, जब और जहाँ जहाँ संभव हो सके वहाँ अपने आपको जागृतीपूर्वक ऐसी बातों से दूर रखते हुए जो कि कुरुप या फिर जीवन को नकारने वाली हो, व्यक्ति सौंदर्यपरकता–संपन्न कल्पनाशक्ति को विकसित करने की सक्रिय शुरूवात कर सकता है। यहाँ पर इस बात का स्मरण रखना आवश्यक है कि भले ही मन को भाने वाली हर चीज कला या फिर वास्तविक रुप से कलात्मक या सौंदर्यपरक नहीं होती, फिर भी उन्हें दिया गया सौंदर्यपरक प्रतिसाद कृत्रिम नहीं होता : कल्पनाशक्ति स्वाभाविक होती है, वह निर्मित की हुई नहीं होती। व्यक्ति स्वयं के भीतर नैसर्गिक रुप से विद्यमान उस आंतरिक शक्ति को पहचानना सिख रहा है; ना कि किसी बाह्य वस्तु को स्वयं के साथ जोड़ना। यह एक बेहद नाजूक मसला है क्योंकि व्यक्ति स्वयं के भीतर ऐसी किसी चीज की खोज कर रहा है जो स्वयं उससे भी छिपी हुई है, और अक्सर उस चीज को पूरी तरह से दिन के उजाले में लाने के लिए व्यक्ति को सहायता की आवश्यकता होती है।

व्यक्ति को अक्सर सौंदयपरकता के गुण से युक्त ऐसी *कल्याण–मित्रता,* 'आध्यात्मिक–मित्रता' या फिर मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है – फिर चाहे वह जिवित लोगों से प्राप्त हो, शैक्षणिक साहित्यिक–कृतियों से या फिर कला की रचनाओं से – और यह कोई संयोग की बात नहीं की पालि तथा संस्कृत शब्द *कल्याण* का प्राथमिक अर्थ है 'सुंदर' और उसका विस्तारित अर्थ है 'नैतिक रुप से भला' : *कल्याण–मित्र* या 'आध्यात्मिक मित्र', वह होता है जो कुछ हद तक अपने भीतर ऐसी किसी बात को धारण किए हुए होता है तथा उस बात को वह दूसरे तक पहुँचाता है, ऐसी बात जो वास्तव में सुंदर तथा अच्छी हो – वह व्यक्ति का नैतिक और सौंदर्य तथा कला संबंधीत बातों का सलाहकार होता है। परंतु वे लोग जो सौंदर्य तथा कला के संबंध में अपरिपक्व होते है वह बहुत आसानी से ऐसी बातों को ही अपनी पसंद बना लेते है जो कि वास्तव में उनकी पसंद नहीं होती : शुरूवात में व्यक्ति उसे पसंद करने लगता है जिसके विषय में वह यह सोचता है कि यह उसे पसंद होना ही चाहिए – FWBO, जो अब त्रिरत्न बौद्ध महासंघ है, के आरंभिक दिनों में हममें से बहुत से लोग संघरक्षित के कलात्मक रूझान का ही अनुकरण किया करते थे जैसे कि प्री–रॅफेअलाईट्स की ओर हमारा रूझान जिसके लिए हमारे भीतर किसी भी प्रकार का स्वतंत्र तथा वास्तविक सराहना का भाव नहीं था। उसकी सारी अनुभवहिनता के बावजूद भी इस प्रकार के सौंदर्य तथा कला संबंधीत शिष्यत्व की आलोचना नहीं की जानी चाहिए, क्योंकि अक्सर यह कला के प्रति अपने स्वयं के नैसर्गिक प्रतिसाद की खोज की ओर बढ़ाया गया पहला कदम होता है।

वर्तमान–काल में एक यशस्वी बौद्ध आंदोलन इस तरह के सौंदर्यपरक अर्थ वाली *कल्याण–मित्रता* के साथ सजीव हो उठेगा। औपचारिक या अनौपचारिक रुप से चाहे जिस तरह भी हो धम्म के मूल्यों को अभिव्यक्त करती वस्तुओं और प्रतिमाओं से वातावरण जितना आल्हाददायक हो सकता है उतना होगा। धम्म–शिक्षा को संवादित करते हुए वास्तविकता तथा अच्छाई की अनुभूति को जगाने के साथ ही साथ सुंदरता की अनुभूति को भी जगाया जाएगा – बजाय इसके की उन्हें एक सूत्रबद्ध छवि के माध्यम से प्रस्तुत किया जाए। एक ऐसी संस्कृति निर्मित होगी जहाँ लोग अपने आपको कला के कार्यों मे व्यस्त करेंगे जिसमे विशिष्ट स्थान तथा विशिष्ट समय की कला एवं समस्त विश्व की सौंदर्यपरक परंपरा दोनों ही शामिल रहेगी। जो लोग अपनी सौदर्यपरकता–संपन्न कल्पनाशक्ति का कुछ हद तक विकास कर चुके है वे अन्य लोगों के साथ अपनी सराहना को बाटेंगे। वे समस्त मानवीयता की महानतम कला के भीतर बसे सौंदर्य के समृद्ध विश्व की खोज में उन अन्य लोगों की सहायता करेंगे। साथ ही वहाँ पर, एक स्वस्थ ऐसा सौंदर्यपरक आलोचना का वातावरण होगा – जहाँ आलोचक की भूमिका सौंदर्य संबंधीत बातों के प्रशिक्षक की होगी। वह सौंदर्यपरकता के अपने प्रतिसादों को अन्य लोगों के साथ इसलिए बाँटेगा ताकि वे लोग अपने स्वयं के प्रतिसाद की खोज कर सकें। ऐसा भी कहा जा सकता है कि धम्म–केंद्र को कला का भी उतना ही केंद्र होना चाहिए जितना वह ध्यान–अभ्यास का या धम्म–तत्वों को सिखने का केंद्र है। ऐसा केंद्र जहाँ लोग अपनी सौंदर्यपरकता–संपन्न कल्पनाशक्ति को खोजने तथा उसे उच्चस्तर पर ले जाने का प्रशिक्षण प्राप्त कर रहे हो।

काफी लंबे अरसे से, संघरक्षित त्रिरत्न बौद्ध महासंघ के धम्म–केंद्रो से संलग्न कला–केंद्रो के विकास को प्रोत्साहित करते चले आ रहे है। 1980 के दशक के आरंभ में, क्रोयडॉन में कुछ समय के लिए विशेष रुप से यशस्वी रहा ऐसा ही एक कला–केंद्र

भी था।[28] यह एक उल्लेखनीय उपलब्धी थी और तब से अब तक ऐसे कुछ ही केंद्रो की निर्मिती हो सकी है। इन केंद्रो का एक कार्य यह हुआ करता था कि वे अलग अलग क्षेत्रों के समकालीन कलाकारों को तथा बौद्ध लोगों को एकत्रित लाए। ताकि वे कलाकार बौद्ध धर्म के साथ अपने रिश्ते को पहचान सके और बौद्ध लोग अपनी ही संस्कृति के स्त्री व पुरुषों द्वारा निर्मित सर्जनशील रचनाओं से समृद्ध हो सके।

एक प्रभावशाली संघ, सौंदर्यपरकता के दृष्टीकोण से आल्हाददायक वातावरण एवं कला को सराहने के प्रशिक्षण को प्रदान करने के साथ ही साथ अपने सदस्यों द्वारा किए गए सर्जनशील प्रयासों को भी प्रोत्साहित करेगा। भले ही कई लोगों को प्राप्त कला की देन इतनी महान नहीं होगी परंतु चित्रकारी, काव्य लेखन या गायन के उनके प्रयास उनकी कल्पनाशक्ति के दायरों को विस्तृत करेंगे और सौंदर्यपरकता की अनुभूति के एक समृद्ध ऐसे आयाम के लिए उन्हें खुला करेंगे। एक ओर जहाँ इस बात में भेद करना आवश्यक है कि कौनसी कृति कला की है और कौनसी नहीं, वहीं दूसरी ओर सर्जन के प्रयासों को करने में कोई हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए। फिर चाहे उस सर्जन की गुणवत्ता कितनी ही सिमित क्यों ना हो।

इसके लिए विवेक या समझदारी के एक नाजूक संतुलन की आवश्यकता है क्योंकि विगत कुछ दशकों में यह मामला काफी जटिल हो गया है – वर्तमान–कालिक समतावाद की यह प्रवृत्ती है कि वह सभी प्रकार की श्रेष्ठता के बीच के भेद को तथा सिद्धांतो एवं नैतिक मूल्यों के सभी पदानुक्रमों को घृणा से देखता है। इसका एक प्रमुख कारण यह रहा है कि ऐतिहासिक रुप से कला को वर्ण व्यवस्था के पदानुक्रम या फिर रंग भेद तथा औपनिवेशिक उत्पीड़न के साथ मिला दिया गया है। परंतु सामाजिक पदानुक्रम का तथा नैतिक और सौंदर्यपरकता संबंधीत पदानुक्रमों का आपस में कोई संबंध हो यह कतई जरूरी नहीं। बिना किसी वर्ण, रंग या जाति के साथ संबंध को जोड़े; यह कहना संभव है कि एक मनुष्य नैतिक रुप से दूसरें से अच्छा है या यह भी कहा जा सकता है कि एक कलाकार दूसरें कलाकार से श्रेष्ठ है।

फिर भी, इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि नैतिक मूल्यों की पदानुक्रमिक श्रेणी को स्वीकृत करने का तात्पर्य यह बिल्कुल नहीं की जो एकदम निम्नस्तर पर है उसका अवमान किया गया हो। जिस बात को सराहने की आवश्यकता है वह यह है कि किस हद तक वह रचनाकार्य कल्पनाशक्ति के अपने आप को मुक्त करने तथा उस रचना के माध्यम से अपनी बात को संवादित करने का संघर्ष दर्शाता है। कल्पनाशक्ति नैसर्गिक रुप से ही अपने स्वयं के दायरों को पार करने वाली होती है। किसी भी वास्तविक या सच्चे रचनाकार्य में, फिर भले ही उसमें सूक्ष्मता तथा यशस्वीता की कितनी ही कमी क्यों ना हो, हमेशा ऐसी किसी बात की ओर का संकेत उपस्थित होता है जो उस कलाकार की अपनी समझ तथा कौशल्य के परे का होता है। ऐसे रचनाकार्य जो अधिक परिशुद्ध नहीं भी है वह भी गंभीर मूल्यों को संवादित करते है। हम में से कई लोग कुछ हद तक लोकप्रिय संस्कृति के अंतर्गत उपस्थित ताकतों से प्रेरित होकर ही धम्म की ओर आकर्षित हुए है। उदाहरण के तौर पर, संघरक्षित के पाश्चिमात्य शिष्यों की आरंभिक पिढ़ी में से अधिकतर लोगों ने अपनी आध्यात्मिक महात्वाकांक्षा की अपने भीतर की पहली हलचल को बॉब डायल्न तथा उसी के जैसे अन्य संगितकारों के संगित में महसूस किया था।

उपयोग–रहितता का विशाल मंडल

तद्नुसार, अपने धम्म आचरण के अविभाज्य हिस्से के तौर पर सौंदर्यपरकता को विकसित करना यह किसी भी गंभीर बौद्ध–साधक के जीवन की विशेष पहचान होगी क्योंकि सौंदर्यपरक सराहना यह जागृती का प्रमुख आयाम है। संघरक्षित इस बात की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते है कि वास्तविक जागृती का अर्थ केवल इतना नहीं है कि वस्तुओं के गुणधर्मों का विवरण करना, विशेषतः उनकी उपयुक्तता के आधार पर। बल्कि, जागृती का अर्थ है उन चीजों की प्रशंसा करना या फिर उन्हें सराहना : 'यह एक तरह से उनका आस्वाद लेने जैसा है – उनके साथ उन्हीं की धुन में बजने जैसा, उन्हीं की लय में लयबद्ध होने जैसा यहाँ तक की उनके साथ एक ही ताल में तालबद्ध हाने जैसा, आप ऐसा कह सकते है : यह केवल उन्हें जानने तक ही सिमित नहीं है'।[29] इस तरह जागृती प्रशंसात्मकता से युक्त है और वह अन्–उपयोगवादी भी होती है। निश्चित

[28] इसकी स्थापना धम्मचारी पद्मराजा ने की थी, जो तब से संघ को छोडकर जा चुके है लेकिन इस महत्वपूर्ण उपलब्धी के लिए उनका नाम कृतज्ञता के साथ स्मरण किए जाने के योग्य है, ऐसी उपलब्धी जिसे और भी बेहतर किए जाने की आवश्यकता है।

[29] *द ग्रेटर मंडला,* मित्रता 16, दिसंबर 1977।

ही धम्म के दृष्टीकोण से महत्वपूर्ण ऐसी एक बात की ओर निर्देश करने के लिए संघरक्षित संस्कृत शब्द '*विद्या* ' का हेच. वी. ग्युइन्थर द्वारा किए गए अनुवाद का उपयोग करते है। विद्या, जिस शब्द का प्रयोग आमतौर पर ज्ञान के अर्थ से किया जाता है उसका अनुवाद ग्युइन्थर ने ' सौंदर्यपरक सराहना ' के तौर पर किया है। इसी प्रकार के सौदर्यपरक प्रशंसा के भाव से हर चीज को हर समय देखना ही *प्रज्ञा* है, जो निश्चित ही मैत्री से ओतप्रोत है।

तद्नुसार, धम्म–जीवन एक ऐसा जीवन है जसमें व्यक्ति का प्रयास केवल भौतक–अर्थ से ही चीजों को प्राप्त करने का नहीं होता। अपने जीवन–संरक्षण एवं धम्म आचरण के तात्कालिक उद्दश्यों की पूर्ति के अलावा व्यक्ति अपनी अनुभूतियों को, उनकी उपयोगिता के आधार पर अधिक महत्व नहीं देता। जीने तथा धम्म–आचरण के व्यावहारिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए व्यक्ति जो कुछ भी करता है वह सौंदर्यपरक प्रशंसा तथा आस्वादन के अधिक विस्तृत विषय के अंतर्गत ही स्थित होता है – जिसे संघरक्षित ने 'सौंदर्यपरक प्रशंसा का विशाल मंडल' या फिर अधिक उत्तेजक रुप से 'उपयोग–रहितता का विशाल मंडल' कहकर संबोधित किया है जिसके भीतर उपयोगी क्रिया–कलाप स्थित होता है। धम्म–जीवन निश्चित ही एक *क्रिडा* है।

सौंदर्यपरकता का आयाम ही वह आयाम है जो धम्म–जीवन को क्रिडा में परिवर्तित करता है। सौंदर्यपरक सर्जन जो कि इंद्रिय–अनुभूतियों का सुनियोजित रुप से आनंददायक रुपात्मक संबंधो में किए जाने वाले प्रस्तुतीकरण की क्रिया है, यह निश्चित ही एक क्रिडा है, 'उद्देश्य–रहित उद्देश्यिता'।[30] कला की जड़े होती है, आग में जलते किसी लकडी के तने को व्यर्थ ही कुरेदनी से कुरेदने में ताकि उससे उडती हुई चिनगारियों को देखा जा सकें, सतह पर उभरती तरंगों का आनंद लेने के लिए किसी कंकड को तालाब की ओर उछालने में, अपनी प्रतिध्वनित आवाज को सुनने के लिए बेमतलब की आवाजों को पुकारने में, लिखती कलम के बहाव का आनंद लेने के लिए किसी कागज के तुकडे पर व्यर्थ ही निशान बनाने में। अपने कमरें के सजो समान को ठिक से लगाना, क्यारियों में फूलों को लगाना या फिर अपने लिए नए कपडे चुनना, यह सब सौंदर्यपरकता के विश्व की ओर बढ़ाए गए छोटे–छोटे कदम हो सकते है कि जिनके बिना जीवन केवल जिवित रहने के लिए किया गया निरस संघर्ष है। मात्र इसी एक सौंदर्यपरक आयाम में – या के कल्पनाशक्ति के आयाम में, जहाँ सौंदर्यपरकता को भी संदर्भ प्रदान किया जा सकता है – जीवन के अर्थ तथा मूल्य को पाया जा सकता है। इस आयाम के आभाव में जीवन वास्तव में जीने लायक नहीं है।

धम्म जीवन ऐसा ही सौंदर्यात्मकता से युक्त एक खेल है, जिसे चीजों के वास्तविक सत्य को पहचानने तथा सभी के भीतर विद्यमान जीवन के साथ गहरी समानुभूति को महसूस करने के संदर्भ में जिया जाता है। यह बोधिसत्व की *लीला* है – एक खेल या क्रिड़ा – ऐसी आनंददायी क्रिड़ा जो सभी सजीवों को अस्तित्व की अंतिम सुंदरता के प्रति सजग करती है। सौंदर्यपरकता का यह आयाम केवल कला की सराहना या कल्पनात्मक सर्जनशीलता में ही उपस्थित नहीं होता बल्कि ध्यान–साधना तथा धम्म आचरण के अन्य पहलूओं में जैसे की शीलों के आचरण में या श्रद्धा की अभिव्यक्ति में भी होता है। जब धम्म–जीवन को जीने का हेतु धम्म–जीवन को जीना यहीं होता है तभी वह वास्तविक धम्म–जीवन होता हैं।

बुद्ध की कल्पना करना

कल्पनाशक्ति हमारे भीतर की एक आंतरिक शक्ति है जो हमारे इर्द गिर्द सभी ओर उपस्थित जीवन के प्रति समानुभूति को महसूस करती है और जो वस्तुओं की सौंदर्यपरक गुणवत्ता को उत्स्फूर्तता से प्रतिसाद देती है। परंतु इस प्रकार से प्रतिसाद देने की क्षमता का होना भी स्वयं अपने आप में पर्याप्त नहीं है।

एक ऐसी कल्पनात्मक समानुभूति जो कि सभी चीजों में विद्यमान जीवन की गुंज के साथ ही गुंजायमान हो निश्चित ही सराहनीय है और वह एक ऐसा ध्येय भी है जिसका प्राप्त किया जाना अभी बाकी है। परंतु एक बार उसे प्राप्त कर लेने के पश्चात उसे उतनी ही सरलता से खोया भी जा सकता है और व्यक्ति फिर एक बार अलगाव या विराग की ओर भी जा सकता है : प्राचीन–कालिक बौद्ध शब्दों में कहा जाए तो कोई देवताओं के उच्चतम लोक से नरक की गहरी खाई में भी गिर सकता है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि अत्यंत गहरी समानुभूति में भी आत्म–स्वार्थ के कुछ लेश शेष रह जाते है जो

[30] कॅन्ट, *क्रिटिक ऑफ जज्मेंट,* अनुवाद, जे. एच. बरनार्ड।

अंतिमतः एक को दूजे से अलग करते है। व्यक्ति का अन्य लोगों के साथ समानुभूति को महसूस करना आत्म–आसक्ति पर ही स्थापित होता है : व्यक्ति दूसरों में अपने ही जैसे जीवन को महसूस करता है और इस कारण उन्हें क्षति पहुँचाने की कामना नहीं कर सकता। अगर हम यह चाहते है ही धर्म–नियम प्रक्रियाओं के अनुरुप अपने आपको प्रकट करने वाली बुद्ध की असिम करुणा विमुक्त हो तो आत्म–आसक्ति के उस हल्के से कंपन को भी पूरी तरह से पहचानना तथा उसे त्यागना जरूरी है। समानुभूति के नैतिक मल्यों को अपने व्यक्तिगत दायरों से ऊपर उठकर पूरी तरह से बुद्धत्व के निस्वार्थ नैतिक मूल्यों में विलिन हो जाना चाहिए।

ठिक इसी तरह सौंदर्यपरक गुणों को दिया जाने वाला प्रतिसाद भी पर्याप्त नहीं है। केवल इतना ही पर्याप्त नहीं की मनोहर (pretty) एवं रमणीय (lovely) बातें हमें जहाँ कहीं भी मिलें हम उनमें आनंद ले, फिर भले हीं वह कितनी समृद्धी प्रदान करने वाली तथा हमें हमारे दायरों से ऊँचा ऊठाने वाली ही क्यों ना हो। इसका सबसे पहला कारण तो यह है कि सौंदर्यपरकता को सराहने की क्षमता अपने आप में आत्मनिर्भर नहीं है। जब तक व्यक्ति स्त्रोतापन्न अवस्था को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक वह कर्मफल पर आधारित होती है : वह हमारे पिछले कर्म का परिणाम, *विपाक* होती है और वह तभी तक जिवित रह सकती है जब तक व्यक्ति कुशल–क्रियाओं द्वारा उसे पोषित करता रहें। परंतु इससे भी अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि सौंदर्यपरक अनुभूतियाँ विशुद्ध स्वरुप में प्राप्त नहीं कि जा सकती। जिंदगी में आज नही ंतो कल आनंद और दुःख, सुंदरता तथा कुरुपता दोनों ही का आना तय होता है।

अगर कोई प्रमुखता से सौंदर्यपरक आनंद–अनुभूतियों को प्राप्त करने हेतु ही धम्म–जीवन जी रहा है तो कुरुपता को टाल ना पाने की समस्या और भी लक्षणीय हो जाती है। आज नहीं तो कल ऐसा जीवन कष्टप्रद बन जाता है : वास्तविकता के भीतर हमेशा ही ऐसी बातें स्थित होती है जो कुरुप तथा अपरिपूर्ण है; किडा हमेशा सबसे सुंदर गुलाब को ही कुतरकर बरबाद करता है। *विपर्यासों, अशुभों* की पारंपारिक सूची में सांसारिक अस्तित्व के सर्वव्यापक लक्षणों के तौर पर दुःख, अनित्य तथा अनात्म इन तीन लक्षणों के साथ ही 'कुरुपता' या 'घृणोत्पादकता' को भी जोडा गया है। आदतन अपने अनुभवों का गलत अर्थ लगाते हुए हम अपने लौकिक अस्तित्व को उल्टा–पुल्टा कर देते है; यह सोचते हुए कि हम स्थिरता, ठोस वास्तविकता, स्थायी खुशी और जीवन परिस्थितियों के ऐसे संयोजनो को प्राप्त कर लेंगे जो पूरी तरह संतोषजनक हो। अशुभों से प्रत्यक्ष भेंट को टालने हेतु व्यक्ति को टेनिसन् की कविता में वर्णित 'खुबसुरती के महल' को निर्माण करने के लिए बाध्य होना पडेगा, ऐसा महल जिसमें हर बदसुरत वस्तु के प्रवेश पर पाबंदी है, जैसे अत्यंत धनी लोगों के किवाड़ बंद घर होते है या फिर ऐसे महल जिसमें दंत कथा के वर्णन अनुसार युवा गौतम को मोहित करने हेतु रखा गया था। अंततः कुरुप तथा बदसुरती का उसमें प्रवेश होना ही होता है और ऐसे में व्यक्ति के स्वर्ग का रुपांतर नरक में हो जाएगा। इसलिए व्यक्ति को चाहिए कि वह केवल मनोहर एवं रमणीय बातों की खोज में ही ना रहते हुए उस सुंदरता (beauty) की तलाश करें जो एक अलौकिक प्रकाश से जगमगाती है, ऐसा प्रकाश जो हमारी आत्म–आसक्ति के परें के आयाम से परावर्तित होता है।

लोकोत्तर वस्तु

इन्हीं कारणों की वजह से ना समानुभूति और ना ही सौंदर्यपरकता पर्याप्त है और ये बौद्ध–धर्म के केवल दो पहलू भर हो सकते है ना कि पूरा बौद्ध–धर्म। धर्म इसी जीवन काल के दौरान अस्थायी रुप से आनंद को वृद्धींगत करने से संबंधीत नहीं है। उसका उद्देश्य है वस्तुओं के वास्तविक स्वरुप की प्रत्यक्ष अनुभूति द्वारा हमेशा ही के लिए दुःख से ऊपर उठ जाना। ऐसा होते हुए भी समानुभूति तथा सौंदर्यपरकता की दृष्टी से आनंद प्रदान करने वानी वस्तुओं के प्रति संवेदनशीलता धम्म–जीवन के लिए बेहद महत्वपूर्ण है, क्योंकि उनका अभ्यास कल्पनाशक्ति के दायरों को विस्तारित करता है एवं उसे परिशुद्ध भी करता है ताकि वह वस्तुओं के अंतिम सत्य का सामना करने के लिए तैयार हो सकें। परंतु समानुभूति का अमर्याद विकास या फिर संवेदनशीलता की परिशुद्धता अकेले ही व्यक्ति को बोधी तक ले जाए यह जरूरी नहीं। इसके लिए व्यक्ति की सचेतन पहचान के परें से किसी चीज का हस्तक्षेप आवश्यक है। व्यक्ति के लिए यह आवश्यक होता है कि वह अपने आप को उस दिशा में तथा उस वस्तु से भेंट करने के लिए मार्गस्थ करें जिसे संघरक्षित 'लाकोत्तर वस्तु' कहते है।

अगर कोई अपने आप को अपने अंतिम ध्येय से परिचित कराना तथा स्वयं को उसके प्रति ग्रहणशील करना चाहता है तो यह आवश्यक है कि वह ध्येय उसके अनुभवों में कहीं कोई स्पष्ट रुप धारण करें। अगर वह लोकोत्तर वस्तु हस्तक्षेप नहीं करती

तो व्यक्ति; बहुत हुआ तो; अपनी स्वयं की ही अत्याधिक परिशुद्ध आत्म–आसक्ति की दिवारों में कैद होकर रह जाएगा – और वह परिशुद्धता भी स्वयं को लंबे समय तक कायम नहीं रख सकती : क्योंकि वह हर समय नए सिरे से किए गए कर्मों पर निर्भर रहती है। अगर कोई वाकई अपने आप को भवचक्र की यातनाओं से मुक्त करना चाहता है तो यह जरूरी है कि कर्म–नियम की संस्कारित प्रकियाँए धर्म–नियम की अपरिवर्तणीय ऐसी प्रक्रियाओं के रास्तों को खुला कर दें। हमें चाहिए कि हम अपने आप को उस लोकोत्तर वस्तु के समक्ष समर्पित कर दें।

उस लाकोत्तर वस्तु से हमारी प्रत्यक्ष भेंट इस तरह से नहीं होती जैसे कि हमने स्वयं ही उसकी रचना की हो बल्कि वह हमारे समक्ष इस तरह से प्रकट होती है जैसे वह हमसे कहीं अधिक विशाल है और साथ ही उसका अस्तित्व हमसें स्वतंत्र भी है, और जो नीचे हमारे स्तर पर हमारी ओर बढती चली आ रहीं है। हमारी कल्पनाशक्ति अपनी सीमाओं से ऊपर उठती चली जाती है और एक छवि नीचे उस दायरें की ओर बढ़ती चली जाती है। परंतु लोकोत्तर वस्तु का अर्थ क्या है? यहाँ पर हम एक गहरे रहस्य में प्रवेश करते है। हमारे सर्वसामान्य मस्तिष्क उन बातों को समझ नहीं पाते है जो बाते उनके दायरों के परे की होती है : हम उन्हें अपने माँस चक्षुओं से देख नहीं सकते और ना ही हमारे रोज़मर्रा के जीवन की सर्वसाधारण संकल्पनाओं के आधार पर हम उन बातों का विश्लेषण कर सकते है – यहाँ तक ही हमारी भावनाएँ भी ऐसी बातों को हमारे व्यक्तिगत इतिहास के भावनात्मक दायरों तक ही सिमित कर देती है। केवल कल्पनाशक्ति ही उस लाकोत्तर वस्तु तक पहुँच सकती है और उसकी मार्गदर्शक एवं जीवन को परिवर्तित करने वाली उपस्थिती को हमारे जीवन में निमंत्रित कर सकती है। हमारी कल्पनाएँ हमसे परे से प्रकाशित हो रहे प्रकाश से प्रदिप्त हो सकती है।

यह हम में से उन लोगों के लिए, जो पहले ईसाई या हिंदु या ऐसे ही किसी अन्य आस्तिकवादी पंथ के अनुयायी रह चुके हो, एक विचित्र क्षेत्र है। हमें ईश्वर की मनहूस उपस्थिती का आभास होने लगता है – और इससे हम में से अधिकतर लोग घृणा तथा तिरस्कार से पिछे हट जाऐंगे। परंतु शायद हमें अधिक दिलेर हृदयों की तथा स्पष्ट मनों की आवश्यकता है। ईश्वर के साथ समस्या यह है कि वस्तुओं के स्वरुप की पर्याप्त जानकारी ना होने के कारण से – मिथ्या दृष्टी के कारण – उसे बहुत ही वास्तविक मान लिया गया है। वह अनुभव जिसका वर्णन कुछ लोग ईश्वर के तौर पर करते है वह सच्चा और प्रामाणिक हो सकता है। स्वयं से बड़ी या विशालकाय लगने वाली ऐसी किसी बात का किसी के मन मे अचानक से विस्फोट हुआ होगा। ईश्वर के साथ की समस्या वह अनुभूति नहीं है बल्कि उसके विषय में सोचने के तरिके तथा हमारे साथ उसके रिश्ते में है और साथ ही उस ईश्वर मीमांसात्मक तथा ईसाई धर्म संबंधी यंत्रणा से है जिससे वह कल्पना घिर जाती है।

एक बौद्ध व्यक्ति के लिए यह जरूरी नहीं कि वह इस तरह के अनुभवों को नकार ही दे वह उस अनुभव की प्रतित्य–समुत्पाद की कसौटी पर जाँच पड़ताल करेगा – कोई भी बात अनंत काल तक अस्तित्व में नहीं रह सकती, फिर चाहे वह हमारे भीतर हो या हमारे बाहर : सब कुछ परिवर्तनशील है, सब कुछ अपरिर्वतनशील ऐसे किसी सार पदार्थ से रहित है। तब हम उस प्राथमिक अपरिपक्व स्वरुप के अनुभव की ओर, उसकी अपनी तय की गई शर्तों पर आगे बढ़ सकते है, उसे शक्ति का विषय मानकर, या फिर प्रदिप्त ऐसी कल्पनाशक्ति का विषय, ऐसा अनुभव जो समस्त संकल्पनात्मक नामाभिधान से परे है। एक बौद्ध होने के नाते हम ईश्वर वाली भाषा का प्रयोग यूँ ही नही करते क्योंकि उससे कोई सहायता प्राप्त नहीं होती और ऐसी भाषा सहज ही कई प्रकार की हिंसा को न्यायसंगत करार देने का साधन बन जाती है।[31]

प्रदिप्त छवि

कल्पनाशक्ति के माध्यम से लोकोत्तर वस्तु की अनुभूति को पाया जा सकता है। दूसरें शब्दों में, अत्यंत व्यापक अर्थ से वह एक छवि होती है। परंतु वह एक ऐसी छवि होती है जो अपने साथ बुद्धत्व के रहस्य को हम तक ले आती है ताकि हम

[31] यह बात विचार करने योग्य है। बहुत से लोग जिन्हे कुछ आध्यात्मिक स्वरुप का अनुभव प्राप्त होता है वे ईश्वर की भाषा का प्रयोग करते है क्योंकि वह तुरंत उपलब्ध होती है। जब कोई ईश्वर के अस्तित्व को नकार देता है और विशेषतः इतनी प्रबलता से जितना मैने अपने भूतकाल में किया है, तब ऐसा प्रतित होता है कि वे लोग ऐसी बात को नकार रहे है जिसका उन्होंने वास्तविक रुप से अनुभव लिया होता है और जो उनके लिए महत्वपूर्ण भी होता है। यह बात बहुत आम है। अक्सर लोग उनके लिए कुछ प्रामाणिक तथा अत्यंत महत्वपूर्ण ऐसी बात के विषय में बात करने के लिए बहुत ही समस्यापूर्ण भाषा का प्रयोग करते है। व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि किसी तरह वह उस अनुभव तथा उसके महत्व को स्वीकृत करें, इस तरह की उसका विश्लेषण समस्यापूर्ण ना हों।

उसका संदर्शन कर सकें और अंतिमतः उसे प्राप्त कर सकें। संघरक्षित के वाक्यांश में, वह एक 'प्रदिप्त छवि' है। हमारी शुद्ध तथा उन्नत कल्पनाओं मे, अपनी ही शक्ती के अंतर्गत जैसे कहीं परें से प्रकाशित एक छवि उभरती है और जो अपनी ओर से हमारी कल्पनाओं को प्रदिप्त करती है।

तो फिर यह प्रदिप्त कल्पनाशक्ति क्या है? नैतिक सदाचार के क्षेत्र में वह आत्म–आसक्ति के अंश से रहित ऐसी समानुभूति है – बोधिसत्व की करुणा। कला के क्षेत्र में, अपने सर्वोच्च अर्थ से, कलात्मक रचना में स्थित सौंदर्य के प्रति की संवेदनशीलता – और अंतिमतः समस्त चीजों में विद्यमान सौंदर्य को वास्तव में विचाराधीन लेने की संवेदनशीलता।[32] प्रदिप्त कल्पनाशक्ति शुद्ध संवेदनशीलता होती है, जिसमें आत्म–आसक्ति का जरा भी लेश नहीं होता। यह हमारे सर्वसामान्य अनुभव–ज्ञान से काफी परे का होता है। हमारा सर्वसामान्य अनुभव अत्यंत गहरी तथा अत्याधिक अजागृत ऐसी आत्म–केंद्रियता पर आधारित होता है : जहाँ अंतिमतः हर चीज को विवशतावश आत्म के तराजू में ही तोला जाता है। यहाँ तक कि व्यक्ति की समानुभूति तथा सौदर्यपरक सराहना जैसी उन्नत विधाओं पर भी आत्मवाद का रंग चढ़ा हुआ होता है। प्रदिप्त छवियाँ इन सिमित कर देने वाले आत्म के दायरों को भेदकर जीवन की गहरी से गहरी धुन के साथ गुंजायमान हो जाती है। *प्रतित्य–समुत्पाद* के संदर्भ में, व्यक्ति सभी वस्तुओं में विद्यमान संस्कारितता के विकसनशील क्रम को प्रत्यक्ष रुप से महसूस करता है; जो क्रम धर्म–नियम प्रक्रियाओं में अपने अंतिम तथा विमुक्त स्वरुप को प्राप्त करता है। व्यक्ति जीवन की वास्तविक नब्ज को महसूस करता है।

जब कल्पनाशक्ति अंतिमतः तथा पूर्णतः प्रदिप्त हो जाती है तब वह हर स्थान पर प्रदिप्त छवि को ही देखती है : जो वास्तव में जैसा है उसे वैसा ही देखा जाता है तथा सभी प्रकार के विचारों से मुक्त, असीम ऐसी करुणा के साथ उस पर प्रेम किया जाता है।[33] कल्पनाशक्ति के उस अंतिम उन्नत स्वरुप की अनुभूति के लिए हमें एक सीढ़ी की आवश्यकता होती है। पैर रखने तथा हाथ पकड़ने हेतु सीढ़ी के ऐसे डंडो का हमारी पहुँच में होना आवश्यक होता है कि जो हमें हमारे वर्तमान स्थान से ऊँचा उठा दें। हमें कुछ विशिष्ट छवियों की आवश्यकता होती है जो हमारी कल्पनाओं में हमारी पहुँच के दायरों में हो परंतु फिर भी ऐसी हो जो हमारी आत्म–आसक्ति के दायरे के परें से कहीं से प्रकाशित हो रही हो। हमें ऐसी कल्पनात्मक मध्यस्त छवियों की आवश्यकता होती है जिनका संदर्शन(उनके गुणों पर चिंतन एवं मनन हेतु कि जाने वाली ध्यान–साधना) हम हमारी उन्नत कल्पनाशक्ति की संपूर्ण उर्जा के साथ कर सके और इस तरह तब वह हमें बोधि के प्रकाश के साथ जोड़ देगी। जब हम संघरक्षित की ध्यान–प्रशिक्षण प्रणाली के चौथे चरण : आध्यात्मिक पुनर्जन्म के चरण पर आरोहण करते है उस वक्त हम यहीं कर रहे होते है। हम हमारी कल्पनाशक्ति को ऐसी छवियों के साथ पोषित करते है जिनका बोधि के साथ विशेष संबंध होता है। जो प्रकाश उन छवियों को प्रकाशित कर रहा होता है उस प्रकाश को हम हमें प्रकाशित करने के लिए निमंत्रित करते है, हमें परिवर्तित करने के लिए ताकि हम प्रदिप्त हो सकें। अत्याधिक विशेषतः से जिन छवियों का संदर्शन किया जाता है वह प्रतिकात्मक बुद्धों तथा बोधिसत्वों की होती है।

बुद्ध का संदर्शन

बौद्ध धर्म में संदर्शन हेतु सबसे विशिष्ट छवि बुद्ध की ही क्यों है? तत्वतः कोई भी छवि प्रदिप्त छवि हो सकती है – चान तथा झेन परंपराओं में ऐसा कहा जाता है कि महाकाश्यप को संबोधी की प्राप्ती उस समय हुई थी जब उन्होनें बुद्ध को अपने हाथ में स्वर्ण कमल को पकडे हुए देखा था। कोई ऐसा भी कह सकता है कि प्रदिप्तता देखने वाले की दृष्टी में होती है ना कि उस वस्तु में जिसे वह देख रहा होता है। परंतु यह बात इस संपूर्ण मुद्दे को ही उस दो आयामों वाली तार्किक सीमा के भीतर ही सिमित हो जाने जितना छोटा बना देती है, जिस सीमा को मानने से कल्पनाशक्ति इन्कार करती है। फिर भी कुछ छवियाँ ऐसी होंगी जो सामान्यतः औरों से अधिक प्रभावशाली होंगी – और विशिष्ट छवियाँ विभिन्न ऐसे व्यक्तिमत्वों के लोगों को प्रभावित कर सकती है।

संघरक्षित ने इस विषय पर बात हरमेटिक् पंथ से जुड़े जादु–सदृश्य प्रतिकात्मक अर्थ के साथ इसके साम्य को दर्शाते हुए की

[32] शायद यही रत्नसंभव की समानता की प्रज्ञा का अभिप्राय है और कदाचित इसी कारण संघरक्षित उन्हें 'सौंदर्य के बुद्ध' कहते है।
[33] संघरक्षित यह सूचित करते है कि महामुद्रा का यही तात्पर्य है।

है। अर्थ के एक स्तर पर स्थित कोई बात किसी रहस्यमय तरिके से अर्थ के दूसरे स्तर पर स्थित किसी बात को जगाती है – शायद इसका सर्वाधिक जाना पहचाना अहसास उस 'पवित्र' वातावरण का होता है जिसे हम कुछ स्थानों पर महसूस करते है, उदाहरणार्थ कुछ गोथिक् गिरिजाघरों में या फिर कुछ प्राचिन कब्रगाहों में। कुछ विशिष्ट ऐसे आकार या परिस्थितियाँ अत्यंत सहजता से हमें कल्पनाशक्ति के क्षेत्र तक पहुँचा सकती है। कभी–कभी सेल्टीक् संस्कृति में इसे 'महिनता'(thinness) मे तौर पर जाना जाता है : एक जगह इस अर्थ से 'महिन'(thin) होती है कि उस स्थान पर उस परदें को जो इस दुनियाँ को देवताओं तथा अन्य शरिर–रहित रूहों की दुनियाँ से अलग करता है, भेदकर उस पार की दुनियाँ में जाना अन्य स्थानों की तुलना में अधिक सरल होता है।[34] ठिक उसी तरह से कुछ छवियों में बडी आसानी से बोधी के गुणों का सम्मिलन देखा जा सकता है। जो छवियाँ बोधि के अधिक से अधिक निकट होंगी उनमें कुछ वैश्विक साम्य होगा, परंतु विशिष्ट संस्कृति, स्वभाव(मानसशास्त्र) और यहाँ तक की केवल परिस्थितीजन्य आधार पर भी उनके व्यक्तिमत्व के विशिष्ट अलंकार निर्धारित किए हुए हो सकते है।

प्रदिप्त छवियाँ उस स्थान पर स्थित होती है जहाँ पर दो गतिविधियों के प्रवाह एक दूसरे से भेंट करते है : एक प्रवाह वह जो किसी व्यक्ति द्वारा एकत्रित कल्पनात्मक उर्जाओं का होता है जो नीचे से ऊपर की ओर प्रवाहित हो रहा होता है और दूसरें प्रवाह को उस व्यक्ति के अपने व्यक्तिगत दायरों से परें कहीं ऊपर से नीचे की ओर प्रवाहित होता महसूस किया जा सकता है। छवि के दृष्टीक्षेप में आने के लिए इन दोनों ही प्रवाहों का उपस्थित होना आवश्यक होता है। यह जरूरी है कि वह छवि अपने आप को हमारे समक्ष इस स्वरुप में प्रस्तुत करें कि हम हमारी इंद्रियजन्य तथा दृष्टी की अनुभूतियों द्वारा उसे पहचान सकें परंतु वह ऐसे किसी अर्थ का धारण किए हुए हो जो हमारी सर्वसामान्य समझ–बूझ के दायरों के परें की हो। बुद्ध की छवि एक ऐसी छवि है जो सर्वाधिक सामान्य रुप से धम्म–साधक के कल्पनाशील संमोहन के उर्ध्वगामी प्रवाह को तथा ऊपर से नीचे की ओर अग्रसर प्रदिप्तता की उर्जा के प्रवाह, दोनों ही को एकीकृत करती है।

इसके कई कारण है कि क्यों बुद्ध की छवि ही वह छवि है जो अत्याधिक सरलता से दृष्टीक्षेप में आती है। चलिए हम उस कारण से आरंभ करते है जो सर्वाधिक स्पष्ट है : वह ऐतिहासिक बुद्ध, गौतम शाक्यमुनि ही थे जिन्होनें बुद्धत्व को प्राप्त किया था तथा वहाँ तक पहुँचने के मार्ग के रुप में हमें धम्म की शिक्षा प्रदान की थी। इसलिए ऐतिहासिक दृष्टीकोण से हम यह समझ सकते है कि वह कौन थे : वह हमारी ही तरह एक मनुष्य थे जिसकी सभी मानव अनुभूतियाँ हमारी ही तरह थी। परंतु हमें यह भी ज्ञात है कि उन्होंने ऐसे अनुभव को पा लिया था जो हमारी वर्तमान आकलन शक्ति से परे है। एक मनुष्य के रुप में हम उन्हें जान सकते है; प्रदिप्तता को धारण किए हुए रुप में हम उन्हें नहीं जान सकते, कम से कम पूरी तरह से तो नहीं और इस वक्त तो बिल्कुल भी नहीं। उस चीज को जिसे जानना हमारे लिए केवल बोधि के साथ ही संभव हो सकता है तथा जिसे हम केवल हमारी अंतप्ररणाओं के द्वारा ही महसूस कर सकते है उसका एक ही छवि में संगम उर्ध्वगामी तथा नीचे की ओर बहने वाले प्रवाह को एक दूसरें मे सम्मिलित करता है जिससे कि प्रदिप्तता निर्मित होती है।

बुद्ध की छवि केवल उनके धम्म–साक्षात्कार का ही प्रतिक नहीं है अपितु उनके द्वारा प्रदान की गई शिक्षाओं का भी प्रतिक है, जो की अनके द्वारा प्राप्त बोधि के सारतत्व के विषय में उनका संवाद है। अन्य सभी बातों के जितना उनकी शिक्षाए हमें यह भी बताती है कि धम्म क्या 'नहीं ' है। उनकी शिक्षाएँ हमें यह बताती है कि किसी भी वस्तु का सारतत्व सनातन नहीं होता परंतु यह भी कि इस वजह से हर वस्तु केवल भौतिक–पदार्थों के दायरें में ही सिमित नहीं हो जाती या फिर यह बात हमें उन वस्तुओं के मूल्यों तथा अर्थों को नकारने वाले उच्छेदवाद के साथ भी नहीं छोड़ देती। उन्होंने हमें इन दोनों ही अतिवादी ऐसे अंतिम छोरों के बीच का मध्यम मार्ग सिखलाया : संस्कारित प्रक्रियाओं का एक बहाव अस्तित्व में है, जो या तो सिर्फ अंतहिन रुप से एक ही चक्र में चक्कर काटता रह सकता है या फिर वह हर परिसीमा से परें विकसित होते हुए निरंतर नए ऐसे स्तर पर चेतना को प्रकट कर सकता है। उस आगम, संस्कारितता के उर्ध्वगामी–चक्राकार ऐसे बहाव का अनुसरण करता हुआ बुद्ध द्वारा सिखलाया गया वह मार्ग है जो हमें उनकी बोधि तक पहुँचाता है – और हम यह भी कह सकते है कि उनकी बोधि से भी परें।

धम्म को धारण की हुई मानवीय छवि के तौर पर जब हम बुद्ध के विषय में चिंतन करते है तब हम इस बात के प्रति भी सजग होते है कि बुद्ध क्या नहीं है : वह कोई सनातन परमेश्वर नहीं है, उससे भी कम संभावना इस बात की है कि वह

[34] ऐसा प्रतित होता है कि स्कॉटलॅन्ड के पश्चिमी समुद्र–तट पर बहुत दूर स्थित, इओना के पवित्र द्विप के विषय में इसी तरह की बात की जाती है।

ब्रम्हांड के निर्माता या उसके ब्रम्हांडीय न्यायाधिश है। परंतु वह कोई सामान्य मनुष्य भी नहीं है जो एक ही जीवन–काल में परिबंधित हो। हमारी सांर्बोधिक धारणाओं से परे उनका अस्तित्व मँडराता रहता है, मध्यम मार्ग के रहस्य की अभिव्यक्ति स्वरुप। संघरक्षित को जामयाँग खेन्से रिंपोचे से जो मंजूश्री स्तुति साधना की दिक्षा प्राप्त हुई थी अगर उसके शब्दों में कहा जाए तो, हम बोधिसत्व की छवि को प्रकट होता हुआ देखते है जब हम '' इस तरह से; मायावी रुप से उसके साथ 'एकरुप' हो जाते है कि वह उस कारण–उद्‌गत छवि को प्रदर्शित होने से ना रोकें; भले ही हमारे समक्ष प्रदर्शित वह दृष्य(छवि) सभी रचनाओं 'सभी वस्तुओं' तथा 'मैं', 'स्कंधो' तथा चेतना के परे की है ''। जब हम बुद्ध की छवि को देखते हुए ऐतिहासिक रुप से उनके द्वारा प्रदान की गई शिक्षाओं के विषय में सजग होते है तब हम यह जानते है कि अस्तित्व तथा अन्‌अस्तित्व के विषय में हमारी जो तात्विक आसक्ति है उस आसक्ति को हमें एक ओर रख देना होगा। ऐसा करने से हम कल्पनाशक्ति के उस शुद्ध क्षेत्र में प्रवेश के काबिल हो जाते है जहाँ हर चीज को हम प्रत्यक्ष रुप से इस तरह से जानते है कि वह 'शून्य है परंतु प्रकट है; प्रकट है परंतु शून्य है'। ऐसा कहा जा सकता की बुद्ध की केंद्रीय तात्विक शिक्षाँए कल्पनाशक्ति के प्रत्यक्ष अनुभव की प्राप्ती के प्रवेशद्वार है और निसंदेह उनकी अपनी छवि इन प्रवेश बिंदुओं को धारण किए हुए है। इस लिए बौद्ध धर्म में बुद्ध की छवि एक केंद्रीय छवि है : एक ऐसी छवि जिसके एक प्रदिप्त छवि में रुपांतरित होने की संभावनाए सबसे अधिक है क्योंकि वह हमारे भीतर अमर्याद ऐसे आश्चर्य तथा आदरभाव को जगाती है परंतु इस बात ही संभावना ना ही के बराबर ही होती है कि हम उसे वास्तविक रुप से सनातन अस्तित्व समझने की भूल करें।

बुद्ध की छवि का महत्व अभी और भी कुछ है : जो कुछ भी मानवीय अनुभूति के दायरों के परें है उस के विषय में बुद्ध की छवि हमें इस तरह से विचार करने से रोकती है कि वह मानवीय अनुभूतियों से रहित है। संघरक्षित हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित करते है कि जब हम किसी वस्तु के विषय में इस प्रकार सोचते है कि वह मानवीय भावनाओं के विषय में भावनाशून्य या तटस्थ है तब हम उसे परा–व्यक्तिगत मानने के स्थान पर उसे मानवीय से भी कम मानते है – मूलतः मृतवत मानते है।[35] इसलिए वह यह प्रतिवाद उपस्थित करते है कि परा–व्यक्तिगत आयाम के विषय में विचार करने हेतु तथा उसका प्रतिनिधित्व करने हेतु मानव स्वरुप ही सबसे बेहतर हो सकता है। जिसका प्रतिनिधितव किया जा रहा होता है वह एक सजीव मानव ही होता है लेकिन अक्सर वह आदर्श रुप में होता है। फिर भी जिस बात का वह प्रतिक होता है वह बात सर्वसामान्य मानवीयता से कहीं परे की होती है – और जो निश्चित ही मानवीय अनुभूतियों से रहित नहीं होती।

इन कारणों से और ऐसे ही कुछ अन्य कारणों की वजह से बौद्ध परंपरा में बुद्ध की छवि ही एक केंद्रीय छवि है, भले ही वह एकमात्र छवि ना हो। वह एक केंद्रीय छवि है क्योंकि वह ऐसी है जो कई तरह से सबसे बेहतर है और सर्वाधिक निसंदिग्धता के साथ उस बात को जागृत करती है जिसे बौद्ध लोग अपनी अनुभूति के स्वभाव के स्वरुप में जानते है। उस छवि के विषय में चिंतन करने से साधक की कल्पना अत्यंत सरलता से उसमे अवशोषित, परिशुद्ध और अंतिमतः प्रदिप्त हो जाती है।

बौद्ध इतिहास में बुद्धत्व को दर्शाने वाली छवियाँ

परंतु, वर्तमान में कई बौद्ध लोग बुद्धों तथा बोधिसत्वों की ऐसी अनेक छवियों पर अपना ध्यान केंद्रीत करते है, जिन छवियों के विषय में ऐसा माना जाता है कि वह किसी भी तरह से मानव रुप में जन्में ऐतिहासिक गौतम शाक्यमुनि का प्रतिनिधित्व नहीं करती। यह सब कुछ विशिष्ट परिस्थितियों के अंतर्गत हुआ है। इस परंपरा के, इस संदर्भ में, अपने आप को प्रकट करने के विषय में संघरक्षित का विचार यहाँ प्रस्तुत करने योग्य है। भले ही यह विचार ऐसा है जो अत्याधिक रुप से उनकी अपनी समझ–बूझ पर आधारित है क्योंकि बौद्ध धर्म के भारतीय इतिहास के विषय में अभी भी बहुत कुछ ऐसा है जो काफी धुँधला है। उस इतिहास के विषय में उनका दृष्टीकोण इस बात को समझने में एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है कि वह त्रिरत्न बौद्ध महासंघ में संदर्शन–ध्यान साधना के किस तरह विकसित होता हुआ देखना चाहते है।

ऐसा प्रतित होता है कि स्वयं बुद्ध के लिए भी एक ऐसी बात अस्तित्व में थी जो उनसें परे की थी। *गारव* सुत्त में, अपने

[35] संघरक्षित, '*द प्राईसलेस ज्युएल* ' भाग 1, अनुच्छेद 5 । साथ ही मेरे सहनिबंध *रेव्हरिंग ॲण्ड रिलाईंग अपॉन द धर्मा* में प्रस्तुत चर्चाओं को भी देखिए।

बुद्धत्व की प्राप्ती के कुछ ही समय पश्चात, उन्हें इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि उन्हें ऐसी किसी वस्तु की आवश्यकता महसूस हुई कि जिसके प्रति वे अपनी श्रद्धा को अभिव्यक्त कर सकें तथा जिस पर वे निर्भर रह सकें। क्योंकि ऐसी किसी वस्तु के आभाव में व्यक्ति दुःख में जीवन व्यतीत करता है। कोई भी जिवित व्यक्ति उनके भीतर की रिक्तता को नहीं भर सकता था, क्योंकि नैतिक सदाचार, ध्यान तथा प्रज्ञा के विषय में वे ही सर्वोच्च स्थान पर थे : वे केवल धम्म के प्रति श्रद्धा को व्यक्त कर सकते थे तथा उसी पर निर्भर रह सकते थे। परंतु स्पष्टतया यहाँ धम्म का तात्पर्य केवल शिक्षाओं के संच से अधिक कुछ है; यहाँ तक की तत्व या फिर सिद्धांत से भी कहीं अधिक।[36] उसका वास्तविक अर्थ क्या है यह बात सुस्पष्ट रुप से एक ऐसा रहस्य है जिस तक केवल कल्पनाशक्ति ही पहुँच सकती है।

बुद्ध अपनी श्रद्धा धम्म में रखते थे, परंतु उनके शिष्य जिनमें उन शिष्यों का भी समावेश था जो बुद्धत्व को प्राप्त कर चुके थे बुद्ध में अपनी श्रद्धा रखते थे।[37] वे उनमें श्रद्धा रखते थे, निश्चित ही इसलिए क्योंकि उन्हे निर्वाण का मार्ग दिखलाने के कारण वे उनके प्रति कृतज्ञता महसूस करते थे। परंतु बुद्ध उनके लिए ऐसी किसी चीज का साकार स्वरुप भी थे जो चीज उनसे कहीं अधिक विशालकाय थी और जो बोधि का सारतत्व थी। ऐसा प्रतित होता है कि आरंभिक परंपराओं में, जहाँ तक पिछे जाकर देखने की आवश्यकता महसूस होती है, ऐसा ही हुआ करता था और कुछ शताब्धीयों तक बुद्ध स्वयं ही श्रद्धा का एकमात्र स्थान रहे थे। बुद्ध के विषय में सोचने का अर्थ यह था कि उनकी बोधी के साथ एक कल्पनात्मक संबंध को स्थापित किया जाए। इतना ही पर्याप्त था।

ऐसा प्रतित होता है कि आरंभिक बौद्धों के लिए बुद्ध की काल्पनिक उपस्थिती इतनी सशक्त रही होगी कि उन्हें इस बात की आवश्यकता ही महसूस नहीं हुई की बुद्ध को किसी प्रतिमा में ढाला जाए। उनके जीवन के प्रमुख पहलुओं को प्रतिकात्मक रुप से दर्शाने के लिए कई अलग अलग प्रकार के चिन्हों का उपयोग किया जाता था : उनके जन्म को दर्शाने के लिए पद्चिन्ह, बुद्धत्व के लिए वृक्ष, उनकी प्रथम शिक्षा के लिए चक्र और उनके परिनिर्वाण को दर्शाने के लिए स्तुप का चिन्ह। जैसे जैसे शताब्धीयाँ बितती गई, बुद्ध की प्रतिमा कई स्वरुपों में दर्शायी जाने लगी और यह प्रतिमाएँ विशषतः बुद्ध की पूजा के केंद्रीय स्थान में थी, उनकी ओर इस तरह से देखा जाता था जैसे कि बुद्ध स्वयं अपने अनुयायियों के साथ उपस्थित है। अनिवार्य रुप से यह प्रतिमाएँ क्रमशः कम से कम प्राकृतिक तथा अधिक आदर्शवत बनती गई।

उसके उपरांत जो बदलाव आए जिसे वर्तमान में महायान के नाम से जाना जाता है उसमें बुद्ध के ऐसे स्वरुप निर्माण हुए जिनका साम्य ना तो शाक्यमुनि बुद्ध से था और ना ही उनके जीवन से। ऐसा माना जाता था कि इन बुद्धों ने भी उसी तरह बुद्धत्व प्राप्त किया था जैसा कि शाक्यमुनि ने; परंतु उनसे स्वतंत्र रुप से। संभवतः वे सारे बुद्ध एक पूरी तरह से भिन्न ऐसी विश्व–प्रणालियों से संबंध रखते थे। इसी तरह बोधिसत्वों का भी अविर्भाव हुआ : ऐसे जीव जो कि उसी तरह से बुद्धत्व प्राप्ती के मार्ग पर आरूढ़ है जैसे कि जातक कथाओं के हाने–वाले बुद्ध अपने मार्ग पर आरूढ़ थे। परंतु फिर एक बार इन बोधिसत्वों का इतिहास भी शाक्यमुनि के इतिहास की दंत–कथा से भिन्न है।

इन परिवर्तनकारी बदलावों को समावेशित करने हेतु, *त्रिकाया* या 'तिन काया' का सिद्धांत स्पष्टीकरणात्मक रुपरेखा के रुप में विकसित हुआ : *निर्माणकाया* ऐतिहासिक तथ्यों के स्तर का प्रतिनिधित्व करती थी, बुद्ध के इस ग्रह पर एक सर्वसामान्य मनुष्य प्राणि के रुप में वास्तविक अस्तित्व का तथा उस मनुष्य अवस्था से उनके बुद्धत्व को प्राप्त करने का; *संभोगकाया* वह बुद्धत्व है जिसे हम प्रदिप्त कल्पनाशक्ति की दृष्टी से देखते है, जो हमारे समक्ष प्रतिकात्मक बुद्धों तथा बोधिसत्वों के रुप में प्रकट होता है; *धर्मकाया* बुद्ध के बुद्धत्व का सारतत्व है, जो सभी संभाव्य प्रतिनिधायन से परें है, वह गुण जिसके होने के कारण ही अन्य कायाँए बुद्ध की कायाँए है – प्रदिप्तता को धारण की हुई छवियाँ।

बौद्ध इतिहास के अंतिम चरण, तंत्रयान के चरण, ने छवियों की संख्या में तीव्रता से होती वृद्धी को देखा। जो पहले तो भारतीय जादू टोने वाली और तत्पश्चात् तिबेटियन तथा सुदूर पूर्व की शमनिझम् परंपरा से प्रभावित थी। तांत्रिक सिद्धों की कल्पनाशक्ति से मन को मोह लेने वाली तथा साथ ही भयभीत कर देने वाले देवी देवताओं की छवियों के समृद्ध ऐसे समूह नृत्य करने लगे तथा वह वज्रयान परंपरा का अविभाज्य पहलू बन गए, जिनका आवाहन आज भी किया जाता है। इनमें से कुछ चित्रों या मूर्तियों को भयभीत कर देने वाले क्रोधित राक्षस या दानव सदृश प्रस्तुत किया गया था तथा अन्य को जानवरों

[36] संयुक्त निकाय भाग I, 6, 2 । इस बात की संपूर्ण खोजबीन के लिए मेरे सहनिबंध *रेव्हरिंग ॲण्ड रिलाईंग अपॉन द धर्मा* पृष्ठ 18 को देखिए।
[37] उदाहरणार्थ हम सारिपुत्त को ऐसा करते हुए देखते है, संयुक्त निकाय भाग V, 48, 58

के सिर या शरिर के साथ – फिर भी इन में से कई आकृतियों को बुद्ध तथा बोधिसत्व समझा जाता था।

हम इस इतिहास को किस प्रकार से देखते है, विशेषतः त्रिरत्न बौद्ध महासंघ के अंतर्गत, यह बात वर्तमान में हमारे इन पारंपारिक रचनाओं को समझने के दृष्टीकोण को प्रभावित करती है तथा इस बात को भी कि हम सब को बुद्ध की कल्पना किस प्रकार से करनी है। संघरक्षित मानते है कि ऐतिहासिक बुद्ध ही समुची परंपरा की कसौटी है फिर वह सिद्धांत के संदर्भ में हो या काल्पनिक रचनाओं के। जहाँ तक शिक्षाओं का सवाल है तो बिल्कुल ही आरंभिक सुत्तों में पाए जाने वाले बुद्ध के वचनों को कसौटी माना जा सकता है। उत्तरकाल में विकसित जो भी सैद्धांतिक शिक्षाएँ है, जैसे की त्रिकाया की शिक्षा, उन्हें आरंभिक सुत्तों में पायी जाने वाली मूलभूत शिक्षाओं के आधार पर जाँचा जाना चाहिए। उन शिक्षाओं के आधार पर जो अगर संपूर्णतः ना भी हो तो भी विशेषतः पालि सुत्त पिटकों में उपस्थित है।[38] इसका तात्पर्य कट्टरवाद को अपनाने से नहीं है। हमें यह नहीं मानना चाहिए की इस परंपरा का अंत हो चुका है और उत्तरकाल में विकसित हुई कुछ बातें बेहद उपयुक्त भी हो सकती है, निश्चित रुप से वह बुद्ध की मौखिक शिक्षाओं का वह लेखा जोखा हो सकता है जो आरंभिक सुत्त–पिटको में छूट गया हो। महायान सूत्रों में तथा अट्ठकथाओं में ऐसे कई सैद्धांतिक विकास हुए है जो पूर्णतः बुद्ध की मूलभूत शिक्षाओं के साथ सुसंगत है तथा वह हमारी समझ को अधिक स्पष्टता एवं गहराई प्रदान करनें में सहायता करते है – जब तक कि उनका अध्ययन मूलभूत शिक्षाओं के आधार पर हो और वह उन शिक्षाओं की मूलभूत कार्यप्रणाली के साथ प्रामाणिक रहें।[39]

ठिक इसी तरह संघरक्षित यह मानते है कि बुद्ध की प्रतिमा या छवि ही उत्तरकाल में विकसित हुई सभी रचनात्मक कलाकृतियों की एकमात्र कसौटी है। महायान परंपरा से जो प्रचुर मात्रा में बुद्धों तथा बोधिसत्वों की समृद्ध संपत्ती उभरी है उसे हम धीरे धीरे हमारे समक्ष प्रकट होने वाली कल्पनात्मक–खोज की अनुभूति के स्वरुप में देख सकते है, जिसके माध्यम से बुद्ध के बुद्ध–स्वभाव का अनुभव किया जा सकता है – धम्म के अंतनिर्हित तत्व का जो कि बुद्ध की श्रद्धा का विषय था और जिसपर वे स्वयं भी निर्भर थे। इस संदर्भ में महायान ने बहुत महत्वपूर्ण ऐसी जरूरत को पूरा किया है क्योंकि ऐसा प्रतित होता है कि आरंभिक परंपराओं ने, बुद्धत्व को समझने या उससे कल्पनात्मक संबंध स्थापित करने हेतु किन्हीं श्रद्धात्मक या कल्पनात्मक पद्धतियों को, शायद ही किसी हद तक, विकसित किया हो। कदाचित ऐसा इसलिए भी हो सकता है कि ध्येय को धारण किए हुए साकार स्वरुप के रुप में उन्होंने स्वयं बुद्ध को ही पर्याप्त पाया होगा। परंतु जैसे जैसे ऐतिहासिक बुद्ध उनकी अनुभूतियों से दूर होते गए वैसे वैसे अत्यंत स्वाभाविक रुप से बोधि की कल्पना करने के नए मार्ग प्रकट होने लगे, उन संकल्पनाओं को गहराई तथा शक्ति प्रदान करते हुए कि जिनके माध्यम से धम्म का आदान–प्रदान किया जाता था।

धीरे धीरे एक बेहद आकर्षक कल्पनात्मक दुनिया उभरती गई, जिसका स्वयं अपना एक काव्यात्मक जीवन–दर्शन था। जैसे कि त्रिकाया का सिद्धांत जो *प्रतित्य–समुत्पाद* के नियमों का उल्लंघन किए बिना उस दुनियाँ का साकारात्मक शब्दों में वर्णन करता था – यह 'मानो जैसे' वाले सिद्धांत के विस्तृत स्वरुप जैसा था। संघरक्षित इन तिन कायाओं को बोधि के साथ संयोजन के यहाँ तक कि संपर्क या संप्रेषण के स्तरों के रुप में देखते है, जो उन छवियों या प्रतिमाओं को समझने हेतु एक सैद्धांतिक संरचना को प्रस्तावित करते है जिनके द्वारा उन कायाओं को प्रस्तुत किया गया है। अपने सर्वसाधारण मन तथा सर्वसाधारण इंद्रियों द्वारा व्यक्ति बुद्ध को या कम से कम *निर्माणकाया* के तौर पर बुद्ध को जान सकता है। अपनी प्रदिप्त कल्पनाशक्ति से व्यक्ति उनके बुद्धत्व की गहरी प्रकृति या स्वभाव को *संभोगकाया* के तौर पर विभिन्न प्रतिकात्मक बुद्धों एवं बोधिसत्वों के माध्यम से महसूस कर सकता है। प्रज्ञा की परिपूर्ण अनुभूति के साथ व्यक्ति प्रत्यक्ष रुप से *धर्मकाया* को जानता है यहाँ तक कि स्वयं उसे धारण भी कर सकता है। धर्मकाया अनुभूति का वह आयाम है जिसने ऐतिहासिक गौतम को बुद्ध में परिवर्तित कर दिया था और जो हमारी उन्नत हो चुकी कल्पनाशक्ति में प्रवेश करता है और उसे प्रदिप्त कर देता है।

फिर भी, संघरक्षित का यह मानना है कि उत्तरकाल में जो भी उद्विकास हुए है उनमें यह प्रवृत्ती रहीं है कि उनका पूर्वोत्तर विकास के साथ संबंध छूट गया है और कुछ सांप्रदायों में तो ऐसी प्रवृत्ती रही है कि वह अन्य बुद्धों एवं बोधिसत्वों पर इस कदर जोर देते है कि शाक्यमुनि से उनका नाता तूट सा जाता है। शाक्यमुनि का हम पर जो भारी कर्ज है उसे नजरअंदाज करने के अतिरिक्त इससे ऐसा भी होता है कि उनके द्वारा प्रदान की गई शिक्षाओं का हमारी नजरों से ओझल हो जाना

[38] संघरक्षित, *द मिनिंग ऑफ ऑरथोडोक्सी इन बुद्धिझम्*।

[39] शून्यता के सिद्धांत का विध्वंसकारी उपयोग किस प्रकार से किया गया इसे जानने के लिए पढ़िए, माईकेल के. जेरिस्न और मार्क ज्युएरजन्स्मेयर लिखित *बुद्धिझम् ॲण्ड वारफेअर* ।

सहज हो जाता है। वर्तमान में कुछ सांप्रदाय उत्तरकाल के ऐसे उद्विकासों पर लगभग पूरी तरह से भरोसा करते है कि जिन विकासों का उन शिक्षाओं के साथ संबंध छूट गया है, जिनके आधार पर उनका विकास हुआ है। इससे बहुत कुछ सवालों के घेरे में आ जाता है कि भले ही शाब्दीक रुप में ना हो परंतु उन बातों का चैतन्य वाकई में बौद्ध–धर्म से संबंधित है भी या नहीं। संघरक्षित मानते है कि जो भी बुद्ध या बोधिसत्व उत्तरकाल में उभर कर आए है उन्हें शाक्यमुनि के बुद्धत्व की अभिव्यक्ति के रुप में देखा जाना चाहिए। कल्पनात्मक संदर्भ में की गई खोज बीन में वह हमें तभी प्राप्य होते है जब हम सैद्धांतिक स्वरुप में इस बात को समझने की अंतिम सीमा तक पहुँच जाते है कि उस बुद्धत्व का वास्तविक अर्थ क्या है। एक तरह से वे सभी शाक्यमुनि बुद्ध *ही* है। इस बात को प्रतिमा–शास्त्र के आधार पर अभिव्यक्त करने हेतु उन्होंने अपने एक छबिकार शिष्य से इस तरह का चित्रण करने की विनंती की थी कि जसमें ऐतिहासिक बुद्ध ऐसी आभा या प्रभामण्डल से घिरे हो कि जिसके भीतर से सभी प्रतिकात्मक बुद्ध तथा बोधिसत्व प्रकट तथा पुनः प्रकट होते दिखलाई दे।

अब तक की चर्चा का संक्षिप्त विवरण : आरंभिक परंपरा उन सभी बातों के लिए सैद्धांतिक तथा कल्पनात्मकता की कसौटी है जिनका विकास उत्तरकाल की शताब्धीयों में हुआ है। बुद्ध तथा उनके तात्कालिक शिष्यों की तुलना में महायान ने सिद्धांतो का तथा प्रतिमाओं का समन्वेषण अधिक परिपूर्ण रुप से किया है, परंतु उस खोज से जो कुछ भी उभर कर आया है उसका बुद्ध की प्रतिमा तथा उनके स्वयं के द्वारा कहे गए शब्दों के आधार पर परिक्षण किया जाना चाहिए, जहाँ तक हम उन्हें जान सकते है – और उन में से अधिकतर बातों को खारिज़ कर दिया जाना चाहिए, विशेषतः सैद्धांतिक क्षेत्र में। मूलतः इन छवियों को ऐतिहासिक बुद्ध के अपने अनुभव के संदर्भ में समझा जाना चाहिए। परंतु वज्रयान में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध छवियों का क्या? निश्चित ही वज्रयान के शिर्षक के अंतर्गत आने वाली कई बातें महायान ही है और उनकी प्रारंभिक परंपराओं के साथ वज्रयान की समनुरुपता का परिक्षण किया जा सकता है। तथापि संघरक्षित अधिक विशेष रुप से तंत्रयान मे विकसित हुई बातों के प्रति सावधान है। वह समझते है कि तंत्रयान की अधिकतर छवियाँ विशेषतः वह जो राक्षसी रुपों में है, बौद्ध धर्म से संबंधीत नहीं लगती, भले ही उनके स्वरुप में आदिकाल की कितनी ही झलक क्यों ना हो।

इससे एक महत्वपूर्ण मुद्दा हमारे समक्ष उपस्थित होता है : यह जरूरी नहीं कि एक सशक्त छवि एक प्रदिप्त छवि भी हो। कोई छवि जीवन से संबंधीत गहरे विषयों को स्पर्श कर सकती है और ऐसी सशक्त वैश्विक उर्जाओं के विषय में ज्ञान प्रदान कर सकती है जो एक शक्तिशाली मनस्तत्वीक उर्जा प्रदान करती है। तथापि, इससे किसी भी तरह यह सूचित नहीं होता कि वह छवि एक प्रदिप्त छवि है – या उसमें सरलता से प्रदिप्त होने की क्षमता है, जब तक की उसे इस अर्थ से ना देखा जाए कि अंतिमतः हर छवि प्रदिप्त होने में सक्षम है। यह वास्तविकता कि कोई छवि हमें अत्यंत तीव्रता से आकर्षित करती है या फिर वह हमारे ख्बाबों में या हमारे मन के भीतर प्रतिबिंब स्वरुप कितने ही सशक्त रुप से प्रकट क्यों ना होती हो उसका यह अर्थ कतई नहीं कि वह इस उम्मीद के साथ चिंतन या संदर्शन के योग्य है कि वह प्रदिप्त हो जाएगी।[40]

---

[40] एक बार मैनें संघरक्षित से यह सवाल किया था कि क्या अपोलो की छवि पर किया गया चिंतन बुद्धत्व तक ले जा सकता है – क्या वह छवि प्रदिप्त हो सकती है। उनका उत्तर था सैद्धांतिक रुप से ऐसा हो सकता है परंतु यह संभव है कि इसके लिए बहुत समय लग सकता है। मैनें पूछा कितना समय और उन्होनें कहा 'कई लाखों वर्ष, शायद कितने ही कल्प – अगर लगने ही है तो लग सकते है!' ।

यहाँ पर त्रिरत्न बौद्ध महासंघ के अंतर्गत उपयोग किए जाने वाले शब्दप्रयोगों के विषय में कुछ असंदिग्धता निर्माण होने की संभावना है, जो कि संघरक्षित के उन शब्दों के अपने उपयोग के कारण भी निर्माण होती है। जैसे मैनें इस निबंध में भी बात की है वैसे ही वे कभी कभार महायान के विकास के दौर में उभरे बुद्ध तथा बोधिसत्वों के विषय में 'प्रतिकात्मक' या फिर 'बुद्धत्व के प्रतिक' होने की बात करते है। यह शब्द हमें सी. जी जंग के वैश्लेशिक मनोविज्ञान में भी मिलता है, जो उन गहरे प्रतिरुपों के विषय में बात करते है जो वहाँ उपस्थित होते है जिसे वह मानवीयता की सामूहिक अजागृत–चेतना कहते है। वह प्रतिरुप अंतहिन रुप से अपने को ख्वाबों, दृष्यों, कला या फिर मनोविकार से संबंधित भ्रांतियों स्वरुप अभिव्यक्त करते है। वह आकार मे भिन्न हो सकते है परंतु उनके विषय हमेशा एक से ही होते है।

परंतु संघरक्षित जब 'प्रतिकात्मक' इस शब्द का उपयोग करते है तो उसका अर्थ कुछ अलग है हालाँकि सी. जी. जंग द्वारा किए गए उपयोग के साथ उसका स्पष्ट ऐसा संबंध है। 'प्रतिकात्मक' बुद्ध तथा बोधिसत्व बुद्धत्व को अभिव्यक्त करते है ना कि केवल मानवीयता के मस्तिष्क में स्थित आदिम प्रतिरुपों को – हालाँकि स्वयं बुद्धत्व को भी मानवीयता की सामूहिक अजागृत–चेतना के एक या अनेक प्रतिकों की अभिव्यक्ति स्वरुप देखा जा सकता है। महायान में पाए जाने वाले बुद्ध तथा बोधिसत्व प्रदिप्तता को अभिव्यक्त करते है और उनका चिंतन या संदर्शन प्रदिप्तता तक ले जा सकता है। जबकि वे सारी बाते जो जंग को अभिप्रेत अर्थ से प्रतिकात्मक है वह निश्चित ही प्रदिप्त नहीं है या ऐसी भी नहीं है जो प्रदिप्त हो सकें।

जब हम 'बुद्धत्व के प्रतिक' की बात करते है तब प्रतिकात्मक होने का अर्थ कुछ आदर्शवत् या कल्पनात्मक होने जैसा है। उन बातों का संबंध 'दृष्टी' के आयाम से होता है – परंतु यह जरूरी नहीं कि वे सारे प्रतिक हमेशा ही दृष्टीगोचर स्वरुप के हो। वह सभी ऐतिहासिक गुणों से युक्त होते है और कभी कभी उनका जिक्र ऐतिहासिक होने के तौर पर ही किया जाता है, जैसे की जब नेपाली बौद्ध यह कहते है कि काटमांडू की घाटी का निर्माण मंजूश्री की तलवार के वार से हुआ है। भले प्रतिकात्मक बुद्ध या बोधिसत्व किसी ऐतिहासिक व्यक्ति स्वरुप अस्तित्व में थे या नहीं परंतु वे

प्रदिप्त छवियों की खोज

चलिए अब बुद्ध की पुनः कल्पना करने के विषय की अब तक की हमारी चर्चा को संक्षिप्त रुप में देखा जाए। कल्पनाशक्ति के प्रदिप्त होने के लिए हमें उसे प्रदिप्त छवियों से पोषित करना होता है – या ऐसी छवियों से जो प्रदिप्तता को सहजता से धारण कर सकती है। एक छवि जो तत्परता से उपलब्ध हो सकती है और जिसके इस संदर्भ में अस्पष्ट या अनेकार्थी होने की संभावना सबसे कम हो ऐसी छवि है बुद्ध की छवि। परंतु वह बुद्ध की छवि ऐसी हो जो अपने आदर्श तथा साथ ही समृद्ध स्वरुप में हो, जो अपने आप को उच्चतम तथा तीव्रतर कल्पनाशक्ति की भाषा में प्रस्तुत करती हो। बौद्ध परंपरा में इस तरह के आदर्शवत तथा समृद्ध स्वरुप में प्रस्तुतिकरण की प्रक्रिया महायान में पायी जाती है।

तो फिर यह बात वर्तमान के बौद्ध व्यक्ति को किस स्थिती में लाकर रखती है? क्या हमें हमारी प्रदिप्त छवियों को महायान से ग्रहण करना होगा? अपने प्रतिष्ठापन के समय से लेकर अब तक FWBO/त्रिरत्न बौद्ध संघ यही करता आया है। संघ मे दिक्षा प्रदान करते समय संघरक्षित दिक्षा ग्रहण करने वाले अपने हर शिष्य को एक मंत्र का उच्चारण करते हुए एक संदर्शन अभ्यास या *साधना* की दिक्षा दिया करते थे। आरंभिक काल में इन छवियों पर किए जाने वाली ध्यान–साधना का स्वरुप वैसा ही था जिस प्रकार से उस ध्यान–साधना की दिक्षा उन्होंने स्वयं अपने तिब्बेटी परंपरा के गुरूओं से ली थी – या फिर वह ध्यान साधनाए उन साधनाओं पर आधारित हुआ करती थी। यह प्रक्रिया बडे पैमाने पर अब तक चली आ रही है, जिसमें उनके शिष्य अपने शिष्यों को विभिन्न प्रकार की ध्यान–साधनाओं की दिक्षा प्रदान करते है जिन साधनाओं का स्त्रोत प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रुप से तिबेटियन परंपरा में है। अब तक जिनकी दिक्षा हो रही होती थी उन्हें किसी विशिष्ट बुद्ध या बोधिसत्व की संदर्शन–साधना से अवगत कराया जाता था जिसके लिए विशिष्ट रंगो, मुद्राओं, पोशाखों तथा अलंकारों का संदर्भ लिया जाता रहा था और इन सब के बीच हमेशा ही एक 'नाटकीय' अंदाज में वह प्रकट होते थे तथा उनके साथ संबंध को स्थापित किया जाना होता था। इस प्रक्रिया में कुछ मंत्रो तथा गाथाओं का उच्चारण भी शामिल हुआ करता था जिन्हें भारत–तिब्बेट की संयुक्त परंपरा से लिया गया था।

संघरक्षित ने कुछ समय पूर्व ही यह स्पष्ट कर दिया है कि वह इन ध्यान–साधनाओं को तिबेटियन परंपरा से संबंधीत होने के तौर पर नहीं देखते और उन्होनें बहुत विशेष रुप से उन विधी–संस्कारों के संदर्भो तथा उनके सैद्धांतिक सविस्तार को खारिज कर दिया है जिनके भीतर इस परंपरा ने इन ध्यान–साधनाओं को जड़ दिया है। बितते समय के साथ धम्मचारी गण को उपलब्ध ध्यान–साधना के अभ्यासों में संशोधन तथा परिशोधन के कई दौर आए। बरहाल हमेशा ही कि तरह इन अभ्यासों का तिबेटियन परंपरा से जुड़े होकर भी उनका हिस्सा ना होने के एक असहज वातावरण में मँडराते रहना बरकरार रहा। जैसे कि कई अन्य क्षेत्रों में भी हुआ है वैसे ही संघरक्षित ने स्वयं, और कभी–कभार अनमने ढंग से ही क्यों ना हो उनका अनुसरण करते हुए त्रिरत्न बौद्ध संघ तथा महासंघ के सदस्यों ने वर्तमानकालिक बौद्ध परंपराओं से ली गई प्रतिमाओं एवं सिद्धांतो को पिछे छोडते हुए ऐसी बातों की ओर धीमी गति से प्रवास किया है जो कि अधिक मूलभूत रुप से बौद्ध–धर्म से जुड़ी है और जो बुद्ध की मूलभूत शिक्षाओं के आधार पर हमारी अपनी परिस्थिती के अनुरुप विकसित हुई है। समय समय पर यह उनके शिष्यों में संभ्रम निर्माण कर देने वाली बात थी, आमतौर पर, जिनकी सिद्धांतो को देख सकने वाली दृष्टी संघरक्षित की अपनी दृष्टी जितनी तिक्ष्ण नहीं है। हम अक्सर उन्हीं स्वरुपों के साथ चिमटे रह जाते है, जिससे उन्होनें हमें परिचित कराया था जब की वे स्वयं इस बात के अंतरंग को प्रगाढ़ता से भेदकर देख चुके है। कल्पनाशक्ति के समन्वेषण का जो क्षेत्र यहाँ चर्चा में है वह ऐसा क्षेत्र है जिसमें वे चाहते है कि हम अधिक निर्णायक रुप से उत्तरकाल की परंपरा की प्रतिमाओं तथा विचारों को पिछे छोड़ दे – और इस मामले में विशेष रुप से उन प्रतिमाओं को जो तिबेटियन परंपरा से संबंधीत है। वे कहते है कि उन्होनें स्वयं कई महान तिबेटियन गुरूओं से दिक्षा तथा शिक्षा ग्रहण ही है, परंतु उन्होनें ऐसा इसलिए नहीं किया क्योंकि वे लोग विशेषतः तिबेटियन परंपरा से संबंधित थे, जिसके लिए उन्होनें स्वयं कभी कोई विशेष आकर्षण महसूस नहीं किया था। वह उन गुरूओं के चरणों के पास इसलिए बैठ गए क्योंकि वे ऐसे लोग थे जिन्होंने उन पर सशक्त आध्यात्मिक प्रभाव डाला था और उन्होंने जो भी शिक्षाएँ तथा अभ्यास उन्हें प्रदान किए उसे उन्होंने हमेशा ही बुद्ध के अपने मौलिक संदेश की रोशनी में देखा, बजाय इसके की वह किसी इस या उस संप्रदाय से संबंधित है।

उस बुद्धत्व के सिद्धांत के साकार रुप या फिर स्वयं बुद्धत्व को धारण किए स्वरुप बन चुके है। वह बोधि के आंतरिक स्वभाव के विषय में हमें बताते है और हमें इस बात की अनुज्ञा देते है कि हम उनके साथ संबंध स्थापित कर सके, ताकि हम खुद भी प्रदिप्त हो सके।

इन अभ्यासों के संदर्भ में संघरक्षित चाहते है कि उनके शिष्य कहीं अधिक निर्णायक रुप से तिबेटियन परंपरा से अपना रिश्ता तोड दे – निश्चित ही उन लोगों के लिए बिना उसके महत्व को कम करते हुए कि जिनके लिए वह सांस्कृतिक रुप से उपयुक्त है। सबसे पहली बात, यह तो स्पष्ट है कि बहुत से संघ–सदस्य(धम्मचारी/धम्मचारिणियाँ) साधना के इन स्वरुपों के साथ ताल–मेल नहीं रख पाते है, भले ही उनकी दिक्षा के समय जिन विधी–संस्कारों के साथ उन्होनें उसे ग्रहण किया था उस वजह से वह साधना उन्हें कितनी ही महत्वपूर्ण क्यों ना लगी हो। बहुत से लोगों ने बस यूँ ही अपनी उस साधना के अभ्यास को करना बंद कर दिया है तथा अपना ध्यान मूलभूत ध्यान–अभ्यासों की ओर केंद्रित कर दिया है। अन्य कुछ लोग, जिस साधना का अभ्यास वह कर रहे है उसे जिस संदर्भ में लिया गया है उसके विषय में अधिक जानकारी प्राप्त करने हेतु तिबेटियन स्त्रोतों के ओर देखते रहे है। कुछ अल्पसंख्यांक लोगो को यह लगता है कि संघ का अनुभव कुछ थोडे बहुत रुप से तिबेटिन परंपरा की विस्तृत शाखा जैसा है; विशेषतः न्यिन्गमा सांप्रदाय की। यह निश्चित तौर पर विचारों तथा अभ्यासों के बीच मतभेद की ओर ले जाने वाली बात है जिससे भविष्य में संघ की एकात्मता को खतरा निर्माण होने का डर है।

परंतु महत्वपूर्ण मुद्दा तो उस अवसर का है जिसे हम खो देते है। बौद्ध परंपरा में उत्तरकाल में विकसित बातों का अनुसरण करने के प्रयास में हम अपने आप को बुद्ध से तथा हमारे अपने वर्तमान परिवेश में जिस कल्पनाशक्ति ने विशेष आकार लिया है उसमें उन्हें ढूँढ पाने के अवसर से भी दूर कर देते है। अधिकतर लोगों के लिए इसका अर्थ यह होगा, भले ही वे प्रत्यक्ष व स्पष्ट रुप से कितने ही श्रद्धालु बौद्ध क्यों ना हो, उनकी वास्तविक श्रद्धा केवल भौतिक विश्व में ही ठहरी रह जाएगी क्योंकि इस विश्व के परे कल्पनात्मक विश्व के सिवाय अन्य कोई विश्व नहीं है। वे लोग कल्पनात्मकता ही गहराईयों को ना अपने धम्म–जीवन में उतार पाऐंगे और ना ही वे हमारे इर्द गिर्द विद्यमान संस्कृतियों के केंद्र में एक नयी बौद्ध संस्कृति के निर्माण में योगदान दे पाऐंगे कि जिसके द्वारा भविष्य में कितने ही अधिक लोगों के लिए धम्म के द्वार खुले हो सकते है। बौद्ध–धर्म ऐसी ही दुनियाँ बसा रह जाएगा कि जिसमें से ईश्वर को तो अलग कर दिया गया है परंतु उस अनुभूति की परम गहराई के अहसास को प्रदान करने वाली उससे अधिक प्रभावशाली ऐसी कोई भी प्रतिमा उसका स्थान नहीं ले पायी हो। ऐसे में बौद्ध–धर्म यथार्थ रुप से 'युरोपियन बौद्ध–धर्म' बन कर रह जाएगा, एक 'निष्क्रिय उच्छेदवाद' जिसके विषय में नित्शे को यह भय था कि वह पाश्चिमात्य सभ्यता की संध्याकाल का धूँधलका है।[41]

हमें क्या करना चाहिए इस विषय में संघरक्षित का यह मानना है कि जिन प्रक्रियाओं से यह परंपराए गुजरी है, हमें उन प्रक्रियाओं से प्रेरणा लेनी चाहिए ना कि उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं से। हम यह देख चुके है कि बुद्ध के परिनिर्वाण के पश्चात उनके शिष्यों ने लगातार उनके साथ तथा उन्हें हुए बोधि के साक्षात्कार के साथ काल्पनिक संबंध को महसूस किया। जैसे जैसे शताब्धीयाँ बितती गई यह संबंध उत्क्रांत होता हुआ तब्दील हो गया छवियों तथा प्रतिमाओं की संपत्ती में, जो बुद्धत्व के सारतत्व को अभिव्यक्त करती थी। अन्य अभ्यासों के संदर्भ में, इन छवियों की आराधना करना तथा इनके विषय में चिंतन करना यह कई लोगों के लिए धम्म की प्रत्यक्ष अनुभूति ले पाने का एक मार्ग था। उनके लिए उनके जीवन में धम्म वास्तविक रुप से उपस्थित था तथा वह प्रत्यक्ष रुप से उस रुप से सिखते थे, इस पृथ्वी पर शाक्यमुनि के जीवन की समाप्ती के कई वर्ष पश्चात भी।

हमारी अपनी परिस्थितियों में, परंतु बिल्कुल ही भिन्न रुप से इसी प्रक्रिया का दुबारा घटित होना आवश्यक है। हमें वापिस ऐतिहासिक बुद्ध तक जाना होगा और उनके बुद्धत्व को नूतन रुप से हमारी कल्पनाओं में उभरने की इजाजत देनी होगी। हममें से कुछ लोग शायद उन छवियों या प्रतिमाओं से प्रेरणा हासिल कर सकते है; जो पहले ही उपस्थित है – परंतु शायद हमें यह सावधानी बरतनी चाहिए कि हम उन्हें एक शॉर्ट–कट बनने की इजाजत ना दे, जिससे हम इस बात की खोज में चूक कर दे कि बुद्ध तथा उनका बुद्धत्व आधुनिक जगत में कैसा दिखलाई देगा। हमें बुद्ध की पुनः कल्पना करने की या फिर अपनी कल्पनाओं में दुबारा से उनकी खोज करने की आवश्यकता है।

बौद्धों का अपनी कल्पनाशक्ति को पुनश्च जागृत करने यात्रा पर निकलना जरूरी है ताकि बुद्ध उसमें उदित हो सकें। इसलिए धम्म के साथ संलग्न होने के हर चरण में कल्पनाशक्ति को व्यस्त रखना, पोषित करना तथा अभिव्यक्त करना आवश्यक होता है – जिसका अर्थ यह है कि संघ के साथ संलग्न होने के हर चरण में भी ऐसा होना चाहिए। इस की ओर इस संदर्भ में भी

[41] एफ. नित्शे, द विल टू पावर, देखिए रॉबर्ट जी. मॉरिसन (धम्मचारी सागरमती) द्वारा लिखित, नित्शे ॲण्ड बुद्धिझम्।

देखा जा सकता है जिसे संघरक्षित बौद्ध–धर्म की एकात्मता को कायम रखने के विषय में देखते है : बुद्ध, धम्म तथा संघ को शरण–गमण करना। वह शरण–गमण को इस तरह से देखते है कि वह ऐसी कृति है जो धम्म–जीवन के हर पहलू का चरित्र–चित्रण करती है और जो सिद्धांत का क्रियात्मक स्वरुप में अवतरण है।[42] जब तक बुद्धत्व की प्राप्ती नहीं हो जाती तब तक शरण–गमण की बार–बार गंभीर से गंभीर स्तर पर पुनरावृत्ती होती रहती है। संघरक्षित पाँच चरणों में शरण–गमण को वर्गीकृत करते है।

सर्वप्रथम, विशेषतः पारंपारिक बौद्ध संस्कृतियों में शरण–गमण *'सांस्कृतिक'* होता है, कम से कम इस तरह कि व्यक्ति अपने आप को इसलिए बौद्ध समझता है क्योंकि वह उसकी प्राचिन संस्कृति है। जब व्यक्ति किसी हद तक धम्म–आचरण करना प्रारंभ कर देता है तब उसका शरण–गमण *'तात्कालिक'* हो जाता है, इस कारण क्योंकि वह वाकई बुद्ध की शिक्षाओं को आचरण में लाने का प्रयास करता है कम से कम तब तक जब तक उसकी प्रेरणा कायम रहती है या फिर धम्म–अभ्यास वर्ग या फिर धम्म–शिबिर चलता रहता है। यह बेहद आरंभिक ऐसे स्तर है परंतु फिर भी बेहद महत्वपूर्ण ऐसे है।

सबसे अधिक विकट स्तर वह है जब शरण–गमण *'परिणामकारक'* को जाता है। व्यक्ति को पर्याप्त रुप से धम्म का इतना सशक्त ऐसा अनुभव आ चुका होता है कि वह इस काबिल हो जाता है कि अपना जीवन उसके लिए समर्पित कर दें और परिणामकारक रुप से उसका आचरण करें। इस स्तर पर व्यक्ति अपने आप को कर्म–नियम प्रक्रियाओं के अनुरुप आचरण के लिए समर्पित कर देता है जो उसे उस मुकाम पर ले जाती है जहाँ वह प्रत्यक्ष रुप से यह जान जाता है कि ना उसके भीतर और ना ही बाहर ऐसा कोई सत्व है जो अपरिवर्तणीय है। इस मुकाम पर व्यक्ति का शरण–गमण *'वास्तविक'* हो जाता है, क्योंकि व्यक्ति के भीतर धर्म–नियम प्रक्रियाँए प्रकट होना आरंभ हो जाता है और व्यक्ति का शरण–गमण स्वयं–स्फूर्त तथा अपरिवर्तणीय हो जाता है। *'अंतिम'* शरण–गमण वह मुकाम है जिस मुकाम पर व्यक्ति स्वयं ही शरण स्थान बन जाता है।

व्यक्ति बुद्ध, धम्म तथा संघ को शरण जाता है। परंतु, ऐतिहासिक दृष्टीकोण से कहा जाए तो, इन तीनों में बुद्ध ही सबसे महत्वपूर्ण शरण–स्थान है। इस अर्थ से क्योंकि अन्य दो का अविर्भाव उनके बुद्धत्व के अनुभव से हुआ है : उन्होंने धम्म की दोबारा खोज की, इस युग को उससे अवगत कराया और उन्होंने संघ का गठन किया। शरण–गमण के इस समूचे ढाँचे में बुद्ध धम्म–जीवन के परम उद्देश्य तथा उसके मूल तत्वों का प्रतिनिधित्व करते है। धम्म–जीवन बुद्ध की तरह बनने के लिए तथा जो उन्हें दिखलाई देता है उसे देखने के लिए जिया जाता है। तद्नुसार शरण–गमण के स्तर बुद्ध के साथ के संबंध के स्तर है।

सांस्कृतिक स्तर पर बुद्ध केवल व्यक्ति के समुदाय तथा संस्कृति को दर्शाने वाले पदक या बिल्ले जैसे होते है, जिसका व्यक्ति पर थोडा बहुत सकारात्मक, नैतिक तथा सामाजिक प्रभाव पडता है। *तात्कालिक* शरण–गमण में व्यक्ति बुद्ध को अपने व्यक्तिगत आदर्श के रुप में देखता है। व्यक्ति इस बात को समझने लगता है कि बुद्ध किस बात का प्रतिनिधित्व करते है, स्वयं उसके लिए भी और समूचे ब्रम्हाण्ड के लिए भी। *परिणामकारक* शरण–गमण के साथ व्यक्ति को बुद्ध की वास्तविकता की झलक प्राप्त हो चुकी होती है – या फिर संघरक्षित के शब्दों में 'झलक की एक झलक' प्राप्त हो चुकी होती है जो उसके प्रयासो को जिवित रखने के लिए पर्याप्त होती है। *वास्तविक* शरण–गमण उस वक्त आरंभ होता है जब व्यक्ति को स्वयं प्रत्यक्ष रुप से बुद्ध के वास्तविक स्वभाव की अनुभूति होती है और *अंतिम* शरण–गमण वह मुकाम है जहाँ व्यक्ति उस अनुभूति में विलिन हो जाता है।

शरण–गमण के स्तरों के इस संपूर्ण ढाँचे में बुद्ध तथा उनका बुद्धत्व व्यक्ति की महत्वाकांक्षा का विषय होता है। वह उस रहस्य का प्रतिनिधित्व करता है जो व्यक्ति की वर्तमान समझ बूझ से परें का होता है और ऐसा होता है जिसे व्यक्ति समझना चाहता है। जैसे की हम पहले देख चुके है, संघरक्षित इसे 'लोकोत्तर वस्तु' कहते है। यह ऐसी छवि होती है जो व्यक्ति की कल्पना में ऐसी किसी बात का प्रतिनिधित्व करती है जिसका आकलन उसकी समझ के दायरों के परे का होता है परंतु जो जीवन को उसका अर्थ तथा ध्येय प्रदान करती है। व्यक्ति की कल्पनाशक्ति में उस लोकोत्तर वस्तु का आभाव होने पर कोई भी शरण–गमण परिणामकारक अर्थ से शरण–गमण नहीं हो सकता।

संघरक्षित के दृष्टीकोण में यह बात बुनियादी है तथा इस योग्य है कि यहाँ फिर एक बार इस पर जोर दिया जा सकता है।

---

[42] संघरक्षित की *द हिस्ट्री ऑफ माय गोईंग फॉर रेफ्यूज़* और मेरी *संघरक्षित : अ न्यू व्हॉइस इन बुद्धिस्ट ट्रेडिशन,* अध्याय 4, इन किताबो को देखिए।

जब कोई त्रिरत्नों को शरण–गमण करता है तब यह आवश्यक है कि उसने अपनी कल्पनाशक्ति में बुद्ध की तथा उनके बुद्धत्व की अनुभूति को कुछ हद तक धारण किया हो। बौद्ध–धर्म के साथ सहसंबंध के हर स्तर पर व्यक्ति का बुद्ध की छवि तथा प्रतिमा के साथ भी सहसंबंध होगा : सर्वप्रथम एक पसंदीदा सांस्कृतिक चिन्ह के रुप में, उसके उपरांत बुद्धत्व जिस व्यापकता को दर्शाता है उस व्यापकता की तात्कालिक अनुभूति के रुप में, तत्पश्चात् व्यक्ति की कल्पनात्मक अनुभूति में उस निश्चित तथा स्थायी उपस्थिति स्वरुप के जिसके प्रति व्यक्ति परिणामकारक रुप से अपने आप को प्रतिज्ञाबद्ध करता है। उसके पश्चात एक ऐसी उर्जा स्वरुप जो व्यक्ति को उसके अपने दायरों से परे तथा ऊँचे ले जाती है, और अंतिमतः ऐसी विमुक्ती तथा समाप्ति स्वरुप जो हमारी जानकारी के बिल्कुल ही परें है। यह बुद्ध की हर चरण से संबंधीत वह छवियाँ है जिनकी हमें तलाश होनी चाहिए; अगर हम हमारे वर्तमान समय के लिए बुद्ध को पुनः खोजना चाहते है तो।

व्यक्ति की अपनी बुद्ध की छवि धीरे धीरे, होते होते, यथाक्रम उभरने लगेगी और जैसे जैसे वह अपने आप को गहराई से बुद्ध, धम्म तथा संघ के सानिध्य में लाता जाएगा वैसे वैसे वह विकसित होती जाएगी। सर्वप्रथम व्यक्ति का परिचय बौद्ध प्रतिकों, चिन्हों तथा विशेषतः बुद्ध की प्रतिमाओं से होता जाएगा जिनके प्रति उसे कुछ आकर्षण और कदाचित श्रद्धा भी महसूस होगी। अक्सर इसकी शुरूवात पूजा–कक्ष में उपस्थित बुद्ध की मूर्ति से होगी, वह कक्ष जिसमें व्यक्ति को ध्यान करना सिखलाया जाता है या फिर जहाँ वह धम्म का श्रवण करता है। उसे बुद्ध के जीवन की तथा उनके विषय की कुछ कहानियों की जानकारी प्राप्त होगी। जैसे जैसे उस व्यक्ति का अनुभव प्रगाढ़ होता जाएगा वह यह समझ पाएगा कि बुद्धत्व का अर्थ क्या है तथा विश्व के इतिहास में बुद्ध ने क्या भूमिका अदा की है। धीरे धीरे, यथाक्रम बुद्ध तथा उनके द्वारा प्राप्त बुद्धत्व उस व्यक्ति के भीतर एक स्वतंत्र कल्पनात्मक जीवन का स्थान प्राप्त कर लेगा। कुछ लोगों के लिए यह बेहद स्पष्ट तथा परिमित होगा और कदाचित कुछ अत्यंत विशिष्ट मन–सृष्ट कल्पित छवियों से भी जुड़ा हो सकता है। अन्य बहुतांश लोगों के लिए यह बेहद अस्फुटित सा होगा जो शायद बहुतसा कुछ एक वातावरण या फिर बुद्ध की जागृत अवस्था की अनुभूति को महसूस करने जैसा होगा। कुछ लोग अपने जीवन में एक निरंतर विकसित होती चेतना की मौजूदगी को महसूस करेंगे, जैसे कि उनके भीतर एक ऐसी चेतना उपस्थित है जो उनकी अपनी चेतना से महत्तर है, जो उन्हें घेर रही है और तो और जो उनसे संवाद भी कर रही है।

बहुदा यहाँ पर एक समस्या निर्माण होती है, जैसे की हम पहले ही देख चुके है : ईश्वर की समस्या। पश्चिम में बौद्ध धर्म की ओर आने वाले अधिकतर लोग या तो ईसाइयत और उसके देवताओं को नकार चुके है या फिर ऐसी भौतिकवादी संस्कृति में उनकी परवरिश हुई होती है जिसमें ईश्वर केवल एक ऐसी काल्पनिक व्यक्ती है जो बहुत पहले उत्सादित हो चुकी है। ऐसी परिस्थिति में अपनी चेतना से बढ़कर किसी और चेतना की अपने भीतर मौजूदगी की कल्पना को या तो घृणा के साथ खारिज कर दिया जाएगा या फिर उसे एक अप्रौढ़ या बचकाना सा भ्रम समझकर उस पर हँसा जाएगा। तथापि, देवताओं द्वारा रिक्त किए गए सांस्कृतिक स्थान में बुद्ध की छवि उभरती है। चाहे किसी भी धर्म शास्त्रीय संदर्भ में क्यों ना हो एक ओर ईश्वर में तथा दूसरी ओर एक लाकोत्तर वस्तु के स्वरुप में बुद्ध में जो असीम अंतर है उस अंतर के प्रति सजग रहते हुए हमें उस कल्पनात्मक स्थान में हो रही हलचल को स्वीकृति प्रदान करना सिखना आना चाहिए। पश्चिमी जगत में बौद्ध–धर्म के विकास के लिए यह बात तब तक वाकई में मुश्किल होगी जब तक हम ईश्वर को स्वीकृति प्रदान करने तथा नैतिक मूल्यों एवं सच्चाई के स्त्रोत स्वरुप प्रगाढ कल्पनाशक्ति को नकारने के बीच का मध्यम मार्ग न खोज ले।

त्रिरत्न बौद्ध महासंघ बुद्ध की खोज में

बुद्ध की छवि की खोज का आरंभिक बिंदु है बुद्ध की ओर एक ऐतिहासिक व्यक्ति के रुप में ध्यान देना। इस आधार पर हमारी कल्पनाशक्ति उड़ान भरने लगती है। बुद्ध क इस धरती पर जीवित होने के स्पष्ट अहसास को विकसित करने से हम उनके द्वारा प्राप्त बोधि के अंतरस्थ तत्व तक पहुँचते है। बुद्ध के जीवन की इस ऐतिहासिक वास्तविकता के अहसास को जान–बूझकर कई तरह से पोषित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए हमारे पूजा–कक्ष में केंद्रीय रुप से बुद्ध की छवियाँ या प्रतिमाएँ रखकर बजाय इसके कि उत्तरकाल में बुद्ध की छवि के आधार पर विकसित हुई छवियों को रखा जाए। बुद्ध की छवियाँ या प्रतिमाएँ उनके अनुस्मरण हेतु हमारे लिए उत्प्रेरक का कार्य करती है और इसलिए हम उन्हें इस प्रकार देख सकते है जैसे कि वे प्रतिमाएँ स्वयं ही बुद्ध हो : पूजा–कक्ष में प्रवेश करते हुए हम इस प्रकार से अभिनय कर सकते है

जैसे की हम वास्तव में बुद्ध की उपस्थिति के संपर्क में आ रहे हो; हम बुद्ध की प्रतिमा के समक्ष इस तरह से नमन कर सकते है जैसे कि हम स्वयं बुद्ध के समक्ष नमन कर रहे हो; प्रत्यक्ष रुप से उनको संबोधित करते हुए हम पूजा तथा वंदना का पठन कर सकते है; विशेषतः इस संदर्भ में सबसे महत्वपूर्ण है त्रिरत्न वंदना जिसकी प्रमुख गाथाएँ पालि सुत्तों में देखने को मिलती है और जो स्वयं बुद्ध द्वारा कहीं गई है। यह मूलभूत अनुष्ठान व्यक्ति की कल्पनाशक्ति द्वारा बुद्ध की छवि को जिवंत करने के सशक्त माध्यम हैं।[43]

हम बुद्ध के वास्तविक अस्तित्व की अनुभूति को और भी अधिक सशक्त कर सकते है। हम ऐसा कर सकते है उनके जीवन के बारे में जानकर तथा उस पर चिंतन कर के और साथ ही उन सुत्तों को पढ़कर जिनमें बुद्ध को धम्म–शिक्षा प्रदान करते हुए प्रस्तुत किया गया है – इन सुत्तों को हमें बुद्ध के साथ कल्पनात्मक संबंध स्थापित करने के लिए भी उतना ही पढ़ना है जितना हम उन्हें उन विशिष्ट शिक्षाओं को जानने के लिए पढ़ते है जो उनमें होती हैं। हम इस बात का स्मरण कर सकते है कि आध्यात्मिक–आचरण के जितने भी अभ्यास हम करते है वह हमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रुप से उन्हीं से प्राप्त हुए है : उदाहरणार्थ हमारे जो बुनियादी ध्यान–अभ्यास है जैसे कि श्वसन–प्रक्रिया की जागृती का ध्यान तथा मैत्री को विकसित करने का ध्यान। इस अर्थ से हम बहुत ही प्रत्यक्ष रुप से उनके शिष्य है।

बुद्ध की ऐतिहासिक वास्तविकता को महसूस करने का तथा उनके महत्व से जुड़ने का एक विशेष रुप से सशक्त माध्यम है उन प्रमुख स्थानों की तिर्थयात्रा जो उनके जीवन के साथ जुड़े है : लुंबिनी, जहाँ उनका जन्म हुआ था; बोधगया, जहाँ उन्होंने बुद्धत्व प्राप्त किया; सारनाथ, जहाँ उन्होंने प्रथम बार धम्म–शिक्षा प्रदान की; कुशिनगर, जहाँ उनका परिनिर्वाण हुआ। महापरिनिर्वाण सुत्त में उन्हें स्वयं यह कहने हुए प्रस्तुत किया गया है कि इन चारों स्थानों पर तिर्थयात्रा के लिए जाने के कारण ऐसी भावनाए उत्पन्न होगी जिनके विषय में ऐसा कहा जा सकता है कि वह उनके द्वारा खोजे गए मार्ग का अनुसरण करने की प्रतिज्ञाबद्धता की सशक्त भावनाए है। वे कहते है कि जब लोग उनके अवशेषों पर स्थापित स्तुपों को देखते है तो उनके 'हृदय शांत हो जाते है और फिर जब उनका शरिर नष्ट हो जाता है तब मृत्यू के बाद वे अच्छी भवितव्यता को प्राप्त कर दिव्य–लोक मे पुनः उत्पन्न होते है'।[44]

एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व के रुप में बुद्ध की अनुभूति को गहरा करने के ये प्रयास हमारी कल्पनाशक्ति में उनकी छवि को उत्प्ररित करते है – आखिरकार, इतिहास के किसी भी पहलू का हमें होने वाला बोध भी अपने आप में एक कल्पनात्मक कृति ही तो है। एक बार जब वह छवि सजीव हो उठती है और जैसे जैसे हम करीब से उस पर ध्यान करते है तथा अंतकरणपूर्वक उसके विषय में चिंतन करते है तब वह अधिक गंभीर तथा अधिक संपन्न महत्व को धारण करती है।

जब इस आधार पर धम्म के साथ का संबंध और गहरा होने लगता है तब बुद्ध की छवि भी अपने प्रभाव और अपनी उपस्थिती के संदर्भ में बढ़ने लगती है। जब व्यक्ति के जीवन में बुद्ध तथा उनके द्वारा प्राप्त बुद्धत्व यह एक मार्गदर्शक उर्जा का रुप ले लेता है तब वह व्यक्ति अपने आप को परिपूर्ण तथा परिणामकारक रुप से बौद्ध मार्ग के प्रति प्रतिज्ञबद्ध करता है। त्रिरत्न बौद्ध महासंघ में यह प्रतिज्ञाबद्धता धम्मचारी या धम्मचारिणी दिक्षा के रुप में अभिव्यक्त की जाती है। जिनके ऊपर दिक्षा–प्रत्याशीओं का चुनाव करने की जिम्मेदारी है उन्हें उन दिक्षा प्रत्याशीयों के जीवन में विशेषतः बुद्धत्व की चिरस्थायी तथा प्रभावशाली छवि की उपस्थिति की खोज रहती है जो उन्हें लगातार अपने आध्यात्मिक प्रयासों की ओर खिंचती रहे।

---

[43] मुझे ऐसा लगता है कि बुद्ध के साथ कल्पनात्मक संबंध स्थापित करने के माध्यम के रुप में पूजा स्थान में उपस्थित प्रतिकों तथा वहाँ किए जाने वाले विधी–संस्कारों इत्यादी से हम और भी बहुत कुछ प्राप्त कर सकते है। ऐसा प्रतित होता है कि बुद्ध की प्रतिमा की निर्मिती के पिछे भी यही बात रही होगी के व्यक्ति यह महसूस कर सकें की बुद्ध वाकई उनके मध्य में उपस्थित है। पूजा–कक्ष अक्सर लोगों के लिए बुद्ध के साथ का प्रथम काल्पनिक संबंध होता है।

साथ ही मुझे ऐसा भी लगता है कि हम बुद्ध नमन से भी बहुत कुछ प्राप्त कर सकते है – निश्चित ही हम कई बार बुद्ध को वास्तविक नमन कर सकते है। पश्चिम में त्रिरत्न बौद्ध महासंघ में यह प्रथा है कि कक्ष मे प्रवेश करते वक्त केवल लोग कमर से झुककर वंदन करते है, परंतु भारत में यह प्रथा है कि बुद्ध प्रतिमा के समक्ष जमीन पर माथा टेककर वंदन किया जाता है और यही पद्धति संपूर्ण बौद्ध विश्व में प्रचलित है। मुझे लगता है कि मात्र झुककर वंदन करने कि पद्धति हमें उस अत्यंत सशक्त एवं प्रभावी ऐसे विधी–संस्कार (पंचांग–प्रणाम)के अनुभव से वंचित रखती है जसमें हम बुद्ध को पुर्णतः लोकोत्तर स्वरुप मे देखते है तथा उनके प्रति गहरी कृतज्ञता एवं श्रद्धा को महसूस करते है।

[44] दि. निकाय 16;5,8–12; *लॉंग डिस्कोर्सेस ऑफ द बुद्धा,* अनुवाद मॉरिस् वाल्श्।

यह बात बार बार दोहराने योग्य है। व्यक्ति त्रिरत्नों को तब तक परिणामकारक रुप से शरण गमण नहीं कर सकता जब तक कि उसका त्रिरत्नों के साथ और विशेषतः बुद्ध तथा उनके द्वारा प्राप्त बुद्धत्व के साथ गहरा कल्पनात्मक संबंध ना हो। यह आदर्श एक या अनेक छवियों के रुप में हमारी कल्पनात्मक अनुभूति के भीतर सन्निहित होंगे, ऐसी किसी बात का प्रतिनिधित्व करते हुए जो हमारे वर्तमान की ज्ञान–कक्षा से परें की है और हमें इस योग्य बनाते हुए की हम वास्तव में इस बात का अनुभव ले सके कि बुद्धत्व का महत्व क्या है। इस बात पर भी बार बार जोर देना आवश्यक है कि यहाँ पर यह जरूरी नहीं कि 'छवि' का अर्थ हमेशा दृष्य छवि ही हो हालाँकि अक्सर वह अपने आपको दृष्य रुप में ही अभिव्यक्त करती है। कल्पनाशक्ति सभी प्रकार के जिस्मानी–इंद्रियों के साथ और वैसे ही सूक्ष्मतर कल्पना करने की क्षमता वाले तत्सम इंद्रियों के साथ भी कार्य कर सकती है। वह सहज–ज्ञान वाली अस्पष्ट अंतप्रेरणाओं के साथ भी कार्य कर सकती है। जैसे कि कमरें में किसी के नजर ना आते हुए भी हमें इस बात का आभास होना कि हम वहाँ अकेले नहीं है। वास्तव में बोधि के हमारे कल्पनात्मक अनुभव के अधिकतर हिस्से का वर्णन करना कठिन होगा, यहाँ तक की हमारे अपने लिए भी उसका वर्णन करना हमारे लिए कठिन होगा। परंतु यदि हमें अपने आप को धम्म–जीवन के लिए प्रतिज्ञाबद्ध करना है तो हमारे भीतर इस अनुभूति का होना आवश्यक है कि जो हमसे परें है ऐसी किसी बात की गूँज हमारे भीतर मौजूद है। उसका केवल मौजूद होना ही पर्याप्त नहीं है : उसे पहचानना, स्वीकृत किया जाना, मूल्य दिया जाना तथा उसे विकसित किया जाना चाहिए।

इस संबंध में संघरक्षित ने एक टिप्पणी यह की है कि बुद्ध की छवि की उपस्थिती को हर समय उसकी अनुपस्थिती से महसूस किया जा सकता है। व्यक्ति अपनी *बुद्धत्व की अप्राप्त–अवस्था* के विषय में स्पष्ट रुप से जागृत हो सकता है। बुद्ध की स्वयं की उपस्थिती के स्थान पर वह खुद के बुद्ध से अंतर के विषय में जागृत हो सकता है। यह कोई पश्चाताप से युक्त ऐसी भावना नहीं है (हालाँकि पश्चाताप उसका एक हिस्सा हो सकता है, अगर किसी से कुछ अकुशल कर्म हुआ है तो), और निश्चित ही यह मानसिक ग्लानी से युक्त भावना नहीं है, ऐसे अर्थ से जैसे कि कोई अपने बचपन के किसी अनुभव की वजह से अपने आपको अयोग्य या अप्रिय समझता हो। एक साधारण इन्सान के तौर पर व्यक्ति काफी आनंदी तथा आत्मविश्वासी महसूस कर सकता है और फिर भी वह तीव्रता से ऐसा भी महसूस कर सकता है कि वह वस्तुओं के स्वभाव के अपने अज्ञान के कारण अपनी ही आत्म–आसक्ति के दुष्ट–चक्र में फँसा हुआ है। बुद्ध की छवि का पूर्ण अहसास पाने के लिए इस बात को पहचानना निश्चित ही आवश्यक है : व्यक्ति उसी हद तक बुद्ध को जान सकता है जिस हद तक वह यह जानता है कि वह बुद्ध नहीं है : छाया से सूर्य के प्रकाश का पता चलता है। वस्तुओं की वास्तविक स्थिति को दी गई इस स्वीकृति के बिना, बुद्ध की छवि को प्रकट नहीं किया जा सकता।

त्रिरत्न बौद्ध महासंघ में दिक्षा के द्वारा जो लोग औपचारिक रुप से अपने आपको धम्म–जीवन के प्रति प्रतिज्ञाबद्ध कर चुके है, उन्होनें बुद्ध तथा उनकी बोधि की उपस्थिती को अपनी कल्पनाओं में महसूस किया है और यह बात स्पष्टतया आध्यात्मिक आचरण के नए आयाम के रुप में विकसित हुई है – संघरक्षित की चतुर्विद ध्यान–प्रशिक्षण प्रणाली में का यह अंतिम चरण है, आध्यात्मिक पुनर्जन्म का।[45] इस ध्यान–प्रशिक्षण प्रणाली में आध्यात्मिक पुनर्जन्म का चरण आता है आध्यात्मिक मृत्यु के चरण के पश्चात जो कि अपनी आत्म–आसक्ति को भेदकर देखने से संबंधीत है। ऐसा करने से व्यक्ति उस बात के संपर्क में आता है जो आत्म–आसक्ति से परें की है – ऐसी बात जो तब शेष रह जाती है जब किसी हद तक व्यक्ति की आध्यात्मिक मृत्यु हो जाती है। जो बात शेष रह जाती है वह एक छवि होती है, बुद्धत्व की छवि जिसमें व्यक्ति रममान हो जाता है। उस छवि के विषय में चिंतन करते रहने से व्यक्ति आहिस्ता–आहिस्ता उस छवि को प्रदिप्त होने के लिए तैयार करता है, जिस स्थिति में वह अपना परिपूर्ण, प्रबुद्ध महत्व प्राप्त कर लेती है।[46]

यह कार्य व्यक्तिगत उपाध्याय[47] का है कि वह जिसे दिक्षा प्रदान कर रहे है उस व्यक्ति की इस बात के लिए सहायता करें

---

[45] संघरक्षित, *अ गाईड टू द बुद्धिस्ट पाथ*।

[46] पारंपारिक शब्दावलीनुसार, *समयसत्व* यह *ज्ञानसत्व* की प्राप्ती का साधन बन जाता है। *समयसत्व* या 'प्रतिज्ञाबद्ध सजीव' वह छवि होती है जिसे हम हमारी कल्पनाओं में निर्मित करते है, हमारे द्वारा चित्रित बुद्ध या बोधिसत्व का मानसिक चित्र। *ज्ञानसत्व* धम्म के प्रकाश से प्रदिप्त होता है, जो 'अपने स्तर से नीचे की ओर आते हुए' उच्चस्तरीय *समयसत्व* की ओर आगे बढ़ता है।

[47] त्रिरत्न बौद्ध महासंघ में दिक्षा को ग्रहण करने के दो भाग होते है, एक व्यक्तिगत रुप से जिसमें केवल दिक्षा प्रत्याशी तथा उसके व्यक्तिगत उपाध्याय उपस्थित होते है और दूसरा भाग होता है सार्वजनिक दिक्षा का जिसमें अन्य दिक्षा प्रत्याशी भी होते है और जो दिक्षा सार्वजनिक उपाध्याय द्वारा प्रदान की जाती है। व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक दोनों की दिक्षाओं में प्रमुख रुप से त्रिशरण तथा शीलों का पठन होता है परंतु व्यक्तिगत दिक्षा में बोधि के साथ कल्पनात्मक संबंध स्थापित करने के अभ्यास की दिक्षा भी शामिल होती है जो अभी हाल ही तक पारंपारिक स्त्रोतों से

कि वह उससे जितना बेहतर रुप से हो सके उतना अपनी कल्पनाशक्ति में द्योतित बुद्ध तथा उनके बुद्धत्व को पहचान सके। फिर वह दोनों एक साथ मिलकर यह देखेंगे कि किस प्रकार से उस संबंध को अधिक गहरा तथा विकसित किया जा सकता है ताकि बुद्धत्व की छवि उस व्यक्ति के जीवन में अधिक से अधिक उपस्थित रहे। उनके समन्वेषण में इस प्रकार की बाते शामिल होगी, उदाहरण के लिए, जैसे यह देखना कि कौनसी ध्वनि उस व्यक्ति के जीवन में बुद्ध की कल्पनात्मक उपस्थिति को अभिमंत्रित करती है – यह ध्वनि शायद किसी पारंपारिक मंत्र के रुप में हो सकती है या फिर उस व्यक्ति, उसके स्वभाव या उसकी संस्कृति के अनुरुप कुछ विशेष। इस साझी खोज में धीरे–धीरे ऐसी कोई राह दिखलाई देगी जिससे वह व्यक्ति बुद्ध की छवि पर ध्यान कर सकेगा, जिससे हर समय बुद्ध की उपस्थिती का अहसास उसके भीतर जिवित रहेगा।

यह बिल्कुल भी स्पष्ट नहीं है कि जब त्रिरत्न बौद्ध महासंघ के भीतर अपनी कल्पनाशक्ति में बुद्ध को खोजने का यह तरिका अधिकाधिक गंभीरता से व्यवहारिक उपयोग में लाया जाएगा तब उस वक्त, तिबेटियन स्त्रोतो से व्युत्पन्न सिद्धांतो तथा अन्य अभ्यासों के ढाँचे के बिना, उसमें से क्या प्रकट होगा। तथापि, इस बात को मान्यता देनी होगी कि संघ की सामुहिक कल्पनाशक्ति में बुद्धत्व पहले ही से जिवित है। हालाँकि वह केवल पारंपारिक साधनाओं या फिर महायान छवियों के जुड़ी ना भी हो तो भी प्रमुखतः उन्हीं के संदर्भ में है। त्रिरत्न बौद्ध महासंघ के सभी सदस्यों को इस बात के लिए जाना जाता है कि त्रिरत्नों के प्रति उनका शरण–गमण परिणामकारक है। इसका अर्थ यह है कि दिक्षा–विधीसंस्कार को ग्रहण करते समय उन में से हर एक व्यक्ति के लिए बुद्ध की छवि जिवित थी। संघ के स्थापना समय से अब तक चालिस या उससे भी अधिक वर्षों के समय में कई लोग, जो छवि जैसे जैसे उनकी कल्पनाशक्ति में उभरती गई उस छवि के साथ, घनिष्ठता से जुड़ चुके है। हम पहले ही से अकेले भी तथा एकत्रित रुप से भी बुद्ध की पुनः कल्पना कर रहे है और हमारे भीतर तथा हमारे जैसे ही प्रयासों मे रत अन्य लोगों में आहिस्ता–आहिस्ता बौद्ध–धर्म वर्तमान जगत में अभिव्यक्त हाने की राह पा रहा है।

यह अन्वेषण जिसमें समूचा संघ एकत्रित रुप से सम्मिलित हो चुका है कई नई छवियों को निर्मित करेगा और बुद्ध की कल्पना करने की नई पद्धतियों को भी, हालाँकि वे सभी अनिवार्य रुप से समान परिपेक्ष्य तथा कार्यप्रणाली पर आधारित होंगी। कुछ लोग बुद्ध एवं बोधिसत्वों का संदर्शन करने की अपनी वर्तमान पद्धति से संतुष्ट होंगे और ऐसी कोई वजह भी नहीं है कि वह उस पद्धती को त्याग दें जो धाम्मिक रुप से उनके लिए फलदायी है। अन्य कुछ लोग ऐसा पाऐंगे कि महायान की छवियाँ उनके अपने कल्पनात्मक–जीवन का साकार स्वरुप है और वे अंतकरणपूर्वक उन्हें प्रतिसाद दे सकते है, भले ही उसमें औपचारिकता की कमी हो तो भी। फिर अन्य कुछ लोगों को बुद्ध कौन है यह दर्शाने वाली बिल्कुल ही नई आकृतियाँ तथा प्रतिमाएँ नजर आयेगी। हालाँकि उपाघ्यायों तथा शिक्षकों के साथ संपर्क के माध्यम से उनको जाँचा जाना चाहिए, इस बात को जानने के लिए कि क्या वह छवियाँ वाकई ऐसी है जो प्रदिप्त हो सकती है या फिर वह केवल शक्तिशाली प्रतिकात्मक प्रतिमाएँ या आकृतियाँ मात्र है। कदाचित बहुत से लोगो को उनके आदर्शों को दृष्य रुप में व्यक्त करने वाली ठोस ऐसी कल्पनात्मक छवि प्राप्त नहीं होगी और हो सकता है कि उन्हें भावविभोर कर देने वाली पराव्यक्तिगत शांती या करुणा या जिसका कोई आकार नहीं परंतु फिर भी जो वास्तव है और उनके जीवन में सक्रिय है ऐसी जागृती का केवल एक धुंधला–सा तथा अस्फुटित–सा आभास होगा।

वक्त के साथ जैसे जैसे हम इस दृष्टीकोण को अपनाते जाऐंगे जो संघरक्षित इस वक्त प्रस्तावित कर रहें है, वैसे वैसे साझे रचनात्मक अनुभवों के समूहों का अविर्भाव होता जाएगा जो उन आकृतियों को अभिव्यक्त करेगा जो हमारी संस्कृतियों में बुद्ध द्वारा धारण की जाएगी। जिस प्रकार से हमारे आध्यात्मिक पूर्वजों ने आकृतियों में और प्रदिप्तता में सहसंबंध का आविष्कार किया था, वैसे ही हम भी कर पाऐंगे ताकि आने वाली पिढ़ियों को ऐसी छवियाँ उपलब्ध हो जो उनके लिए उपयुक्त हो और जो उन्हें प्रदिप्त होने की ओर ले जाए।

कल्पनाशक्ती का संदर्भ

कल्पनाशक्ति धम्म–जीवन को जीने का माध्यम है। अगर हम धम्म–मार्ग का अनुसरण करना चाहते है तो हमें कल्पनाशक्ति

लिए बुद्ध या बोधिसत्व पर आधारित होती थी, तथापि अब इस विषय में संघरक्षित हमसे यह चाहते है कि हमे अब आमूल परिवर्तनवादी होना चाहिए, जैसे कि प्रस्तुत निबंध का विषय है।

को पहचानना तथा विकसित करना होगा और तो और हमें स्वयं ही कल्पनाशक्ति बन जाना होगा। जैसा कि हम पहले ही विस्तार से देख चुके है कि हम तीन प्रकार से ऐसा कर सकते है : हमारे इर्द गिर्द की जो सजीव दुनिया है उसके प्रति नैसर्गिक संवेदनशीलता को विकसित कर, सौंदर्यबोध होने पर स्वयं–स्फूर्त रुप से दिये जाने वाले हमारे प्रतिसादों को पहचान कर तथा उन्हें योग्य रुप से प्रशिक्षित कर और बुद्ध की उस छवि का संदर्शन करके जों हमें हमारे मन में नजर आती है। परंतु अगर कल्पनाशक्ती का उपयुक्त रुप से विकास होना है ताकि वह हमें बुद्धत्व की ओर ले जाए तो उसे संदर्भ की आवश्यकता होती है, क्योंकि अगर कल्पनाशक्ति को सही ढंग से ना समझा जाए तो वह काफी कठिनाईयाँ निर्माण कर सकती है। कल्पनाशक्ति का अयोग्य विकास नैतिक अकर्मण्यता, भ्राँति या फिर उन्माद भी निर्माण कर सकता है – और क्यों ना हों, दुनियाँ में जो अधिकतर बुराई है वह विकृत कल्पनाशक्ति की ही तो देन है। बौद्ध–धर्म में कल्पनाशक्ति के सुगम प्रकटीकरण के लिए जो रक्षोपाय है वह हमें मिलते है सम्यक दृष्टी, जागृती, नैतिक सदाचार के शीलों में और ऐसा भी कहा जा सकता है कि स्वयं बुद्ध में। हम बारी–बारी से इन में से हर एक का परिक्षण करेंगे।

सम्यकदृष्टी, जिसका सबसे मूलभूत वर्णन प्रतित्य–समुत्पाद के तौर पर किया जाता है, तार्किक समझ की सीमाओं को परिभाषित करती है। वह हमारी अनुभूतियों के विषय के सभी सैद्धांतिक विवेचनों को अंतिमतः अस्तित्व में होने या ना होने के वर्गों में द्विभाजित करती है। वह हमें हमारे काल्पनिक अनुभवों का एकदम यथाशब्द मूलार्थकरण करने से रोकती है। इससे हम काल्पनिक बातों को एक संकुचित अर्थ से वास्तव (real) समझने की भूल नहीं करते और ना ही हम उसे एक रोचक–कल्पना (fantasy) समझ कर खारिज करते है। यहीं वह दो प्रवृत्तीयाँ है, शाश्वतवाद तथा उच्छेदवाद, जिनमें से दोनों ही के अंतर्गत कल्पनाशक्ति के लिए खतरा मौजूद है।

एक तरफ तो हम छवियों और काल्पनिक दृष्यों को ऐतिहासिक तथ्यों की दुनियाँ के बारे में के खुलासों के रुप में ले सकते है। जैसे जब हम यह मानते है कि किन्हीं विशिष्ट कार्यों को पूर्णत्व तक ले जाने का दैवी कार्य हमें करना है – जिसका अतिरेक वह हिंसा है जो धर्म के नाम पर होती है परंतु इस हिंसा के कई सौम्य से लगने वाले स्वरुप भी होते है। दूसरी ओर हम ऐतिहासिक तथ्यों की दुनियाँ को ही एकमात्र वास्तविकता मानते हुए कल्पनाओं को केवल दिवा स्वप्नों की तरह खारिज कर सकते है, जिस सूरत में वह कुशलतापूर्वक हमारी जागृती के बिना ही हमसे अपना कार्य करवा लेगी – यकिनन ऐसा कहा जा सकता है कि वर्तमान जगत में जो पर्यावरण का क्षरण हो रहा है वह हमारी संकुचित वैज्ञानिकता वाली संस्कृति का नतिजा है, जिसमें हम इस दृष्टीकोण के परिणामों को देख सकते है। काल्पनिक अनुभवों का यथाशब्द मूलार्थकरण करने की इन प्रवृत्तीयों का उदाहरण 'ब्रम्हजाल सुत्त' में दिया गया है, जिसमें मिथ्या दृष्टी के चौसठ प्रकारों को सूचीबद्ध किया गया है, जिनमें से कई प्रकार अनुभूतियों के गलत विवेचन के कारण उदित होते है फिर चाहे वह अनुभूति ऐतिहासिक प्रकार की हो या फिर दृष्टीगोचर स्वरुप की।[48]

सम्यक दृष्टी के आयुधों के साथ सुसज्जित होने से व्यक्ति कल्पनात्मक दुनियाँ के महत्व को पहचान सकता है। उस दुनियाँ को अपने आप में पूरी गंभीरता से लेते हुए तथा बिना अपने रोज मर्रा के सर्वसाधारण अनुभवों के आधार पर उसका सीधे–सीधे विवेचन किए। यह बेहद जरूरी है कि व्यक्ति को अपने आध्यात्मिक जीवन के आरंभ में ही जितनी जल्दी हो सकें उतनी जल्दी सम्यक दृष्टी का बोध हो जाए नही तो विकृति तथा भ्रम का अनुगमण हो सकता है और यह बात कई समस्याओं को जन्म दे सकती है – या फिर जो संघर्ष व्यक्ति के मन में उत्पन्न होगा उससे बचने हेतु वह वापस अपनी आम जिंदगी की ओर पिछे लौट जाएगा। सम्सक दृष्टी का बोध हाने का मूलभूत अर्थ यह है कि जब व्यक्ति कुछ सोच रहा होता है तब वह यह जानता है कि वह क्या कर रहा है – और यह भी सोच कौनसी बातें नहीं कर सकती है।

> विचारों और वस्तुओं के बीच में, वास्तविकता की ओर निर्देश करने वाली संकल्पनाओं तथा स्वयं वास्तविकता के बीच में, परिणामकारक रुप से भेद कर पाना, यह एक कला है जिसका संबंध आध्यात्मिक संस्कृति के अत्याधिक उन्नत चरण से है।[49]

अगर कल्पनाशक्ति को उन्नत होना हो तो यहीं वह संस्कृति है जिसका विकास होना वर्तमान जगत में आवश्यक है।

---

[48] दि. निकाय 1।

[49] संघरक्षित, *अ सर्वे ऑफ बुद्धिझम्,* अध्याय 1, IX

विचारों तथा वस्तुओं में भेद करने का कार्य काफी हद तक बौद्धीक है : व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह स्वयं के तथा साथ ही अन्य लोगों द्वारा कृत शाब्दीक विवरणों को एक ओर रखना सिखें – अधिक परंपरागत रुप से ऐसा कह सकते है कि वह *मिथ्या दृष्टी* या गलत दृष्टीकोणों को पहचाने तथा उन्हें पूरी तरह से जाने। परंतु यह भेद अनुभूतियों के आधार पर भी किया जाता है। व्यक्ति में यह काबिलियत होनी चाहिए कि वह प्रत्यक्ष स्वयं के भीतर ही इस बात के बीच भेद कर सके कि वह वास्तव में महसूस क्या कर रहा है और उस अनुभव के विषय में उसका विवेचन क्या है – इस बात के बीच के वास्तव में घटित क्या हो रहा है और उसके विषय में कौनसी कहानियाँ हम अपने आप को सूना रहे है। यह अपनी जागृती को प्रशिक्षित करने का कार्य है। आम तौर पर ऐसे प्रशिक्षण का आरंभ होता है अपने शरिर के प्रति जागृती रखने से – या और भी बेहतर रुप से कहें तो शारिरिक संवेदनाओं के प्रति जागृती रखने से (पारंपारिक शब्दावली में, स्पर्श तथा वेदना)। अपने आप को इन संवेदनाओं को पहचानने तथा पूर्णतः स्वीकृत करने के लिए प्रशिक्षित करने से हम अपने आप को किसी अनुभूति के विवेचन में जाने से पूर्व ही उसमें स्थापित कर सकते है – प्रपंच या मानसिक कल्पनाओं के प्रसार तथा विवेचनात्मक अर्थों का निर्माण होने से पूर्व ही। वास्तव में क्या घटित हो रहा है इस बात पर ध्यान केंद्रित करने की इस प्रक्रिया का विस्तार हम शारिरिक संवेदनाओं के अलावा हमारे अनुभवों के अन्य क्षेत्रों में भी कर सकते है : फिर चाहे हम उसका विचार चार सती पठ्ठानों के शिर्षक के अंतर्गत करे या फिर संघरक्षित के जागृती के चार आयामों के अंतर्गत।[50]इस आधार पर हम कल्पनाओं को प्रकट होने की अनुमती दे सकते है उसे शाब्दिक परिभाषाओं में जकड़े बिना, जिसके विषय में अधिकतर हम अजागृत होते है।

तथापि जागृती केवल इतना ही नहीं करती कि वह कल्पनाशक्ति को अविवेचित अनुभव में स्थापित कर उसकी राह आसान करें। जैसे जैसे व्यक्ति किसी एक क्षेत्र में अधिक से अधिक जागृत होता है तब वह जो भी अनुभव करता है वह निरंतर वृद्धिंगत होती कल्पनाशक्ति की समृद्धि तथा गहराई में प्रकट होता है। इस तरह व्यक्ति जब किसी विशिष्ट शारिरिक संवेदना के प्रति जागृत होता है तो वह उन्हें अधिक से अधिक संतोषजनक, सूक्ष्म तथा चित्तकर्षक ऐसी पाता है। जागृती आप ही आप कल्पनाशक्ति बन जाती है। इस प्रकार अनापान्सती या फिर मैत्री विकास जैसे ध्यान व्यक्ति को कल्पनाशक्ति की दुनियाँ में गहरे और अत्यंत गहरे तक ले जाते है। अपने श्वसन से निर्माण होने वाली संवेदनाओं या फिर अपने तथा अन्य लोगों की भलाई की कामना पर ध्यान केंद्रीत करने से व्यक्ति शुरूवात करता है, परंतु, उसकी एकाग्रता जितनी महीन तथा जितनी अधिक तीव्र होगी, उतनी ही अधिक सूक्ष्मता से तथा समृद्ध स्वरुप में अनुभूतियों के विषय या फिर छवियाँ अपने आप को प्रकट करती है, और व्यक्ति *ध्यान* की पहुँच वाले काल्पनिक क्षेत्रों में प्रवेश कर जाता है।[51] इसका मन पर दोनों ही तरह का असर होता है, उसे तरोताजा और निर्मल करने वाला भी तथा कल्पनाशक्ति को मुक्त करने वाला भी ताकि वह अपनी छवियों के प्रदिप्तीकरण के प्रति ग्रहणशील हो सकें।

वस्तुओं के वास्तविक स्वभाव के विषय की बौद्धिक समझ का होना तथा अनुभूतियों एवं उसके विवेचन में भेद कर पाना यह बातें आसानी से मुमकिन नहीं होती, विशेषतः तब जब ऐसा करना व्यक्ति की संस्कृति से मेल ना खाता हो और उसकी दुलारी आदतों के ढाँचे के लिए खतरा पैदा करता हो। इसके लिए व्यक्ति को अत्याधिक सहारे तथा मार्गदर्शन की जरूरत होती है। यह उन लोगों से प्राप्त होता है जिनकी आध्यात्मिक आकांक्षा उस व्यक्ति की आकांक्षा जैसी ही हो और विशेष रुप से उन लोगों से जिनके पास उस व्यक्ति से अधिक अनुभव तथा विश्वास हो – संघ के संदर्भ में यह समस्तरीय तथा उर्ध्वगामी *कल्याणमित्रता* से प्राप्त होता है।

इन बुनियादी बातों को सिखने हेतु संघ ना केवल एक परिवेश प्रदान करता है बल्कि वह कल्पनाशक्ति के लिए एक कड़ी परिक्षा का भी कार्य करेगा। संघ के भीतर कल्पनाशक्ति को बेहद महत्व दिया जाएगा ताकि हर एक व्यक्ति को अपने भीतर तथा इर्द गिर्द कल्पनाशक्ति के विस्तृत तथा अज्ञात क्षेत्रों को खोजने का विश्वास हासिल हो। संघ के सदस्य अपनी खुद की कल्पनाशक्ति को विकसित करने हेतु एक साझी भाषा का उपयोग करेंगे, एक ऐसी संस्कृती को निर्मित करते हुए जो हर उस व्यक्ति को जो उससे संलग्न होगा पोषित करेगी तथा उसे उच्चतर अवस्थाओं तक ले जाएगी। मित्र व्यक्ति को उसके भीतर

---

[50] संघरक्षित, *द बुद्धास् नोबल एट फोल्ड पाथ,* 'परफेक्ट अवेअरनेस'।

[51] परंपारिक रुप से *ध्यान की प्रत्येक अवस्थाओं* का संबंध किसी एक विशिष्ट देव–लोक से जोड़ा जाता है। जिसमें से हर एक लोक अपने पिछले लोक से अधिक सूक्ष्म ऐसा होता है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक लोक का संबंध कल्पनाशक्ति या दृष्यगत अनुभवों के अधिक सूक्ष्म आयामों के साथ होता है।

के कल्पनात्मक जीवन को अभिव्यक्त करने के लिए सहयोग करेंगे। उपाध्याय, शिक्षक तथा कल्याणमित्र व्यक्ति को उसके अपने लिए ऐसी छवियाँ तलाशने के लिए मदद करेंगे जिनसे वह पोषण प्राप्त कर सकें तथा जो इस योग्य भी हो कि वह सहजता से प्रदिप्ती को धारण कर सकें, ऐसी छवियों को उन छवियों से अलग करते हुए जो केवल विचारधाराओं या भाव–भावनाओं को आकर्षक लगती है।[52] और वे सब कल्पनाशक्ति के मूलार्थकरण के कारण अपरिहार्य रुप से निर्माण होने वाले विभिन्न भ्रमों, प्रमादों तथा व्यर्थ फूलने जैसी बातों से भी व्यक्ति की रक्षा करेंगे। ऐसा वे व्यक्ति को उसकी समझबूझ तथा भावनाओं के उन संभ्रमों को सुलझाने मे मदद करके करेंगे जो कल्पनाशक्ति के जागृत होने के समय में हमेशा उसके सहवर्ती होते है।

व्यक्ति के अपने प्रयासों तथा संघ की कल्पनात्मकता से युक्त संस्कृति के अलावा और भी एक व्यापक संदर्भ है : स्वयं बुद्ध का संदर्भ और उस परंपरा का जिसका प्रवाह उनसे आरंभ होकर आज तक बरकरार है। व्यक्ति बुद्ध की शिक्षाओं को प्रमाण मानकर अपने कल्पनात्मक अनुभव की जाँच कर सकता है और अगर कुछ संघर्ष का अंदेशा हो तो इस बात की खोजबीन कर सकता है कि उससे कहाँ गलती हुई है। ऐसी जाँच पड़ताल का सबसे मौलिक तरिका है उन बातों को शीलों की कसौटी लगाकर देखना। व्यक्ति की कल्पनाशक्ति चाहे जिस बात के लिए भी उसे उकसावा दे रहीं हो, उन बातों का रुख व्यक्ति के इस प्रकार के आचरण की ओर नहीं होना चाहिए जो शीलों में सन्निहित अहिंसा तथा मित्रता के नियमों का उल्लंघन करें, क्योंकि शील बुद्ध के आचरण का वर्णन करते है। यह एक गंभीर हिदायत है। धार्मिक प्रेरणाओं का प्रयोग कई बार हिंसा तथा विध्वंस के अत्यंत अमानवीय कृत्यों को उचित सिद्ध करने के लिए भी किया जा सकता है। बौद्ध–धर्म में भी हमें ऐसे उदाहरण देखने को मिल सकते है जहाँ बौद्ध–सिद्धांतो को ऐसी कृतियों को करने के लिए बहाना बनाया जाता है जिसका बुद्ध ने कभी भी समर्थन नहीं किया होता।[53] यद्यपि, जीवन के जटिल स्वरुप के कारण अक्सर शीलों के अनुसार आचरण कर पाना कठिन होता है, फिर भी किसी भी प्रकार के भ्रम फिर चाहे वह दैवी प्रेरणा से प्राप्त हुए हो या अन्य किसी प्रकार के हो, शील उन सभी से रक्षा करने वाले मौलिक रक्षक है।

परंतु बुद्ध के संदर्भ तथा उनकी परंपरा के पास हमारी कल्पकता के अन्वेषण को देने के लिए और भी बहुत कुछ है। अपने स्वयं के अनुभव को बुद्ध के अनुभव तथा उनके अनेक शिष्यों के अनुभव से संबद्ध करने से व्यक्ति प्रोत्साहन, अभिपोषण तथा अपनी स्वयं की कल्पनात्मकता के अन्वेषण की यात्रा के लिए एक अभिवर्धित परिपेक्ष्य प्राप्त कर सकता है। अपने शिक्षकों द्वारा प्रस्तुत तरिके से तथा अपने स्वयं के संघ के भीतर बुद्ध, धम्म तथा संघ को निरंतरता से शरण–गमण करते रहने से व्यक्ति सुरक्षित रुप से तथा उपयुक्त ढंग से कल्पनाशक्ति के अमर्याद ऐसे आसमान की खोज कर सकता है कि जिस अभ्र के भीतर उसकी बुद्ध से भेंट होगी।

कल्पनाशक्ति की खुलती परतों के लिए संदर्भ का होना अत्याधिक महत्वपूर्ण है, यदि व्यक्ति यह चाहता है कि वह मार्ग से ना भटके या फिर वह अपने प्रयासों को छोड कर वापिस मुडकर पारंपारिक रूढ़ीगत दुनियाँ से समझौता ना करें तो – ऐसी दुनियाँ जो केवल मायावी कल्पनाओं (fantasy) से भरी है। परंतु एक बार जब कोई धम्म के प्रवाह में प्रवेश कर लेता है तब उसकी कल्पनाशक्ति स्थायी रुप से प्रदिप्त हो जाती है। किसी भी प्रकार के भ्रम उसकी राह रोकने में असमर्थ होते है और कल्पनाशक्ति की परतें, *धर्म–नियम* प्रक्रियाओं के अनुरुप उत्स्फूर्तता तथा सहजता से अपने आप को प्रकट करती है। जरूरी नहीं कि व्यक्ति जान–बूझकर संदर्भ की खोज करें क्योंकि संदर्भ का विकास व्यक्ति के भीतर तथा उसके इर्द गिर्द सहजता से होता जाएगा।

---

[52] उदाहरणार्थ संघरक्षित इस विषय में बेहद सजग है कि बहुत सी महिलाँए अपने दिक्षा ग्रहण के समय ध्यान–साधना हेतु स्त्री बुद्धों या बोधिसत्वों का चुनाव सिर्फ इसलिए करती है कि वह भी उन्हीं की भाँति स्त्री रुप में है। क्योंकि इस तरह का चुनाव कभी–कभार भावनाओं की उपरी प्रेरणाओं या आदर्शो पर आधारित होता है इसलिए वह गहरी कल्पनाओं को छूने मे असमर्थ होते है और प्रदिप्तीकरण के लिए आधार प्रदान नहीं कर सकते। इसी तरह के उपरी चुनाव भयंकर से दिखने वाली राक्षसी आकृतियों के प्रति महसूस होने वाले आकर्षण के पिछे भी होते है – और कभी अधिक 'नियमित' स्वरुपों के लिए भी : उदाहरणार्थ, किसी को मंजूश्री का उनके 'मर्दाना' तलवारबाजी के कारण पसंद होना। अक्सर एक व्यक्ति करके हमारे भीतर उस गहराई की कमी होती है जिससे हम यह जान सके की चुनाव किस तरह किया जाए। इसलिए अधिकतर लोगों के लिए यह अच्छा है, ऐसा उनका मानना है, कि वे ऐतिहासिक बुद्ध के साथ अधिक निकट से संबंध स्थापित करने का प्रयास कर रहें है – और यह देखने का कि उनके इन प्रयासों से क्या उदित होगा। यह अलग से कहने की आवश्यकता नहीं है कि उनका ऐसा कहना बिल्कुल भी नहीं है कि वे सभी लोग जो स्त्री स्वरुपों का ध्यान–साधना के लिए चुनाव करते है वे सभी ऐसा उपरी या सतही कारणों के कारण करते है।

[53] ऊपर टिप्पणी क्रमांक 36 देखिए।

हर्षित कर देने वाले ऐसे उस समय के आने के पूर्व हमारा कार्य यह है कि हम अपनी कल्पनाशक्तियों को गंभीरता से लेकर तथा इस प्रकार कार्य करके कि हमारी कल्पनाशक्ति की परतें अधिक से अधिक पूर्ण रुप से खुली होती जाए, हम एकत्रित रुप से एक अभिनव कल्पनात्मक संस्कृति का निर्माण करें। ऐसा करने से हम पाऐंगे कि हमारे इर्द गिर्द की दुनियाँ की ओर हमारे प्रयास एक निरंतर तीव्र तथा संक्षिप्त ऐसी गती से बढ़ते जाऐंगे एवं हम हर वस्तु के जीवन में हमारे ही प्रतिबिंब को झलकता हुआ पाऐंगे। हम अपनी खुद की संस्कृति के भीतर ही सृजकता से ऐसी गहराईयों को प्राप्त कर लेंगे कि जिसमें से धम्म के हमेशा कायम रहने वाले चैतन्य को अभिव्यक्त करने वाली नविन कृतियाँ साकार होंगी। और हम बुद्ध को हमारे समक्ष ऐसे रुप में प्रकट होता हुआ पाऐंगे जो कुछ जाना पहचाना सा तो होगा पर साथ ही वह ऐसे किसी अनंत रहस्य की प्रतिध्वनि भी होगा जिसे हम शायद किसी दिन समझ सके।

रुआँसा होकर, उफ् हमें	Oh, we must weep
सितारो से याचना करनी होगी	And beg the stars
हमारे हृदय में उतर कर	Descend into our hearts
वे सदा सदा के लिए	And make us
हमें हर्षित कर दें;	Glad forever;
परंतु वे हमारी एक ना सुनेंगे	Yet they will not obey
जब तक कि हम खुद ही	Unless we ourselves
अपनी हड्डियों की एक सीढी बनाकर	Make of our bones a ladder
प्यार से, उस पर चढ़ते हुए	And climb, lovingly
ऊपर उन तक ना पहुँचे।	Up to them.

बोधगया,
25 नवंबर 2010